डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी



सर पद्मालिका

सूर-पद-मालिका

सम्पादक :

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, एम.ए., डी.लिट्.

अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययनशाला

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.)



कैलाश पुस्तक सदन

भोपाल जबलपुर ग्वालियर आगरा

प्रकाशक

कैलाश पुस्तक सदन

पाटनकर बाजार, ग्वालियर-474009



शाखाएँ

हमीदिया मार्ग, भोपाल-462001

26, अंजुमन काम्पलेक्स, जबलपुर-482002

पृष्ठ : १७६

मूल्य : **16-00**

मुद्रक :

ओरियन्ट आफसेट

199/5 चौधरी ब्रह्मसिंह मार्ग

मौजपुर दिल्ली-110053

दो शब्द

यद्यपि 'सूरदास' पर अनेक संकलन प्रकाशित हैं, तथापि प्रस्तुत संकलन की अपेक्षा कई कारणों से प्रतीत हुई—एक तो समस्त 'सूरसागर' का और संक्षेप में सार प्रस्तुत हो, दूसरे यह कि सूर का अध्येता जिन तमाम अपेक्षित पक्षों को गहराई से समझना चाहता है, उन्हें अद्यतन अध्ययन, अनुसंधान तथा मंथन-जन्य उपलब्धियों के आलोक में पुनः समझ सके। सूर-पंचशती के सन्दर्भ में भारतव्यापी संगोष्ठियों और परिसंवादों से सूर पर और नया प्रकाश पड़ा है, नये पक्ष सामने आये हैं। एक विद्यार्थी के नाते मैंने अधिकांश संगोष्ठियों और परिसंवादों में भाग लिया और अपनी मान्यताएँ स्थिर कीं। इस अवसर पर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग तथा उसकी सहायता से परिचालित संगोष्ठियों के संयोजकों, उनमें भाग लेने वाले विद्वानों, सूर के अध्येताओं तथा उनके प्रति समर्पित अनुसंधाताओं और लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। साधुवाद प्रकाशक महोदय को भी देना चाहता हूँ इसलिए कि उन्होंने बड़ी धीरता से प्रतीक्षा की और पाण्डुलिपि मिल जाने पर अधीरता से प्रकाशन की शीघ्र व्यवस्था की।

—राममूर्ति त्रिपाठी

विषय-सूची

भूमिका

जीवनवृत्त

'आस्था' शब्द भारतीय सन्दर्भ में ही अन्वर्थ लगता है। आ-इस प्रकार से, स्था-स्थिति-टिकाव, उस पर सम्भव है जो स्वयं टिके हुए हों अपेक्षाकृत स्थायी हों। भौतिक पिण्ड या भौतिक वैभव में उन्हें कोई आस्था नहीं—

'पिण्डेष्वानास्था खलु भौतिकेषु'

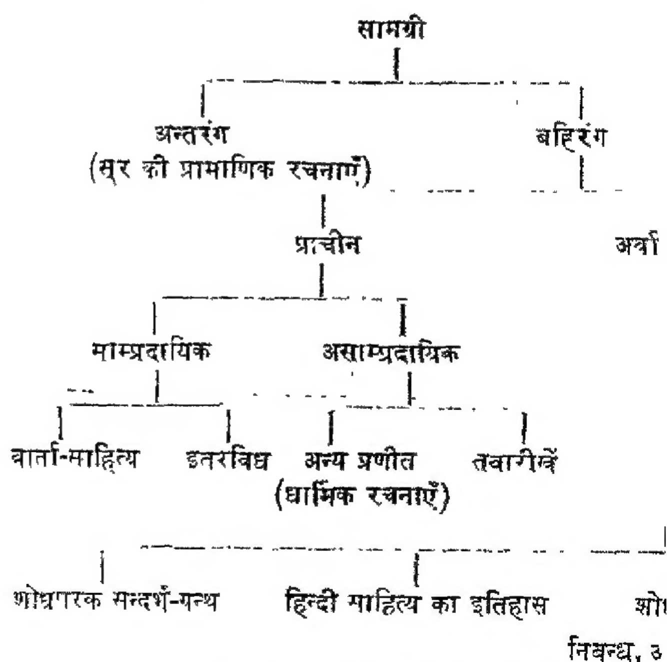
भौतिक टुकड़ो पर क्या आस्था ? जो स्वयं बिखरे हुए हैं। इसलिए जिन नसों और धमनियों में ये संस्कार परम्परा से प्रवाही हैं, उन्होंने अपनी सारस्वत-सृष्टि में अपने भौतिक परिवेश की सर्वथा उपेक्षा की है। केवल चेतना वहाँ लहलहा रही है। भक्त कवि सूर के साथ भी यही बात है। उनकी रचनाओं में उनके जीवन का भौतिक वृत्त अनुपस्थित है। अतः देश, काल और घटनाओं के सम्पिण्डित पुंज को इतिहास मानने वाले जब सूर का भौतिक इतिहास प्रस्तुत करने का संकल्प लेते हैं तब प्रायः उन्हें निराश होना पड़ता है। फिर भी उनका प्रयास जारी है और कुछ न कुछ अन्तः साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर रूपरेखा बना लेते है।

भक्तवर सूरदास के जीवनवृत्त की रूपरेखा जिस सामग्री के आधार पर बनती है— वह द्विधा विभक्त की जाती है—अन्तरंग एवं बहिरंग। अन्तरंग सामग्री वह है जो उनकी रचनाओं में ही मौजूद है और बहिरंग वह जो रचनाओं से भिन्न है। विवादास्पद यह भी है कि उनकी रचनाएँ कौन-कौन सी है। अनेक सूरदासों की स्थिति और उनके बीच व्यावर्तक भौतिक विवरणों की कमी, फलतः रचनाओं का मिश्रण, प्रक्षेप आदि रचनाओं की प्रामाणिकता में बाधक बन गये है। फिर भी कुछ रचनाओं को प्रामाणिक मान लिया गया और उनमें उपलब्ध संकेतों को अन्तरंग करार दिया गया। सूरसागर, साहित्य लहरी तथा सूरसारावली को सामान्यतः उनकी प्रामाणिक रचना मान लिया गया है— यद्यपि इस पर यहाँ भी विचार किया जायगा।

बहिरंग सामग्री के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री को काल की दृष्टि से द्विधा विभाजित किया जा सकता है—एक वह जो प्राचीन है और दूसरी वह जो आधुनिक है। प्राचीन बहिरंग सामग्री भी दो प्रकार की है – साम्प्रदायिक तथा

असाम्प्रदायिक । साम्प्रदायिक सामग्री सम्प्रदाय के लोगों द्वारा र
इसे भी द्विधा विभाजित किया जा सकता है— वार्ता-साहित्य त
साहित्य । वार्ता-साहित्य में जिनका समावेश किया जाता है वे है
वैष्णवन की वार्ता, (२) निज वार्ता, तथा (३) भाव प्रकाश । इन
दायिक साहित्य में वल्लभदिग्विजय, भावसंग्रह, संस्कृतवार्तामणि
सर्वामृत, वैष्णवाह्निक पद आदि आते हैं । सम्प्रदायेतर सामग्री
आने वाली एक तो वे रचनाएँ है जो समकालीन अथवा परवर्ती
और दूसरी वे जो तवारीख या इतिहासात्मक हैं । इनमें भी प्रस
जीवनवृत्त से सम्बद्ध संकेत मिलते हैं—जैसे, 'आइने-अकबरी',
तवारीख, 'मुशीयात-अबुलफजल' । यह सब तो रही प्राचीन साम

नवीन सामग्री के अन्तर्गत खोजरिपोर्ट है और अनेकानेक ि
के इतिहास तथा सूर पर लिखे गये आलोचनात्मक ग्रन्थ । इस
का विवरण यों रहा :



इस समस्त सामग्री में जहाँ तक अन्तरंग सामग्री का सम्बन्ध
वह स्वयं अपनी समग्र प्रामाणिकता में विवादास्पद हैं—दूसरे, क.
[illegible] दो [illegible] (सम्मद बरस प्रवीन/ग्मम्···) मिलते है—शेष
[illegible] के भी है । भावनामूलक उद्गारों का साक्ष्य देकर कोई निष्क

खतरनाक है। वहिःसाक्ष्य में वार्ता साहित्य, निजवार्ता तथा भावप्रकाश प्राय मन्निहित और समकालीन लोगों द्वारा प्रस्तुत हुए हैं—इसलिए लोग उसे महत्व देते हैं। लेकिन यह साहित्य अध्यात्ममूलक अनहोनियों की चर्चा करता है जिस पर सब विश्वास नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, जन्मांधता को ही लिया जा सकता है। वैसे इनमें बहुत से अनुश्रुति-अविरोधी तथ्यों के संकेत उपलब्ध है। सम्प्रदाय के लोगों द्वारा लिखी गयी सामग्री भी दलविरोधी तथ्य प्रस्तुत करने मे उपादेय है। मुस्लिम तवारीखों का प्रस्तुत सूरदास के जीवनवृत्त निरूपण मे प्रमुख योगदान नहीं है। आधुनिक सामग्री उक्त सामग्री की सहायता लेती है और अनेक प्रकार के ऊहापोह करती है—इस माने मे वह उपादेय है। गवेषको ने वौद्धिक मंथन द्वारा अव तक जो निर्णय उक्त सामग्री के आधार पर निकाले है—उस दिशा में कुछ निवेदन यहाँ किया जा रहा है :

जन्म-स्थान

इस सन्दर्भ में अव तक कुल चार विकल्प आये हैं—सीही, रुनकता, मथुरा प्रान्त में कोई ग्राम तथा गोपाचल। (क) गोपाचल का पक्ष साहित्य लहरी के उस पद पर आधारित है जिसमें उनके वंश का विस्तृत परिचय दिया गया है। वहाँ कहा गया है—

'आगरे रहि गोपाचल में रह्यो तासुत बीर'

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'ग्वालियर' का नाम 'गोपाचल' सिद्ध किया है और कहा है कि सूर की जन्मभूमि वही है। (ख) मथुरा प्रान्त वाले पक्ष का आधार है कवि मियासिंह कृत 'भक्तविनोद'। इसमें कहा गया है—'मथुरा प्रान्त विप्रकर गेहा। भो उत्पन्न भक्तहरि नेहा।' (ग) रुनकता वाले पक्ष का आधार है—मूल चौरासी वार्ता, जिसमें कहा गया है कि सूरदास दीक्षित होने से पूर्व गऊघाट पर रहते थे। रुनकता इसी के पास आगरा-मथुरा के बीच स्थित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा वाबू श्यामसुन्दरदास आदि का मत यही है। प० मुंशीराम शर्मा ने गोपाचल और गऊघाट को एक माना है—जो निराधार है। (घ) चौथा पक्ष है—सीही का। इस पक्ष की प्रतिष्ठा का आधार है—वार्ता-साहित्य। चौरासी वार्ता के भावप्रकाश में सूरदास का जन्मस्थान दिल्ली के निकट 'सीही' में कहा गया है। गोकुलनाथजी के समकालीन कवि प्राणनाथ ने भी 'अष्टसखामृत' में सूर का जन्म-स्थान 'सीही' ही माना है, कहा गया है

श्री वल्लभप्रभु लाड़िले, सीही-सर-जलजात।
सारसुती-दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात॥

इन चारों विकल्पों में से जहाँ तक प्रथम विकल्प का सम्बन्ध है—यह इसलिए अमान्य है कि एक तो वह पद ही विवादास्पद है। जब सूर ने अपनी किसी भी

कृति से अपने जीवन के भौतिक पक्ष का इतना विस्तृत परिचय नहीं दिया, तो यहीं क्यों देने लग ? दूसरी बात यह कि इस पद में संकेतित या निर्दिष्ट अन्य तथ्यों का समर्थन अन्य स्रोतों में नहीं होता । और, यह मान भी लिया जाय कि सूर के पूर्वज गोपाचल में रहते थे— तो यह कैसे सिद्ध होगा कि सूर का वही जन्म-स्थान है । सूर की भाषा जिस प्रदेश की है—वह प्रदेश गोपाचल नहीं है । वैसे अब उसे (ग्वालियर) से जोड़ा जाने लगा है । कविवर विष्णुदास गोपाचल प्रदेश के हैं और सूर पूर्व ब्रजभाषा की शृंखला की वे एक अविच्छेद्य कड़ी के रूप में आते हैं । पर मीतल जी की यह मान्यता कि उनकी रचनाओं की भाषा इस मान्यता के विपक्ष में जाती है—विचारणीय है । दूसरा विकल्प है—मथुरा प्रान्त । रचनाओं में प्रयुक्त भाषा का सान्निध्य तो इस पक्ष को है—पर मथुरा प्रान्त किसी जन्म-स्थान विशेष की संज्ञा तो नहीं हो सकती । जब वार्ता-साहित्य में स्थान विशेष का उल्लेख मिलता है—तब इसे क्यों महत्व दिया जाय ? तृतीय विकल्प का आधार तो स्पष्ट ही सूरदास का 'गऊघाट' पर रहना माना जाता है—जो रुनकता के समीप है । दीक्षापूर्व गऊघाट पर रहना इस बात का सुदृढ़ प्रमाण नहीं है कि रुनकता उनका जन्म-स्थान है । वार्ता-साहित्य में 'गऊघाट' का उल्लेख केवल रहने के सन्दर्भ में है जबकि 'सीही' की चर्चा जन्म-स्थान के रूप में है—जो चतुर्थ विकल्प है । विद्वानों का झुकाव अब इसी पक्ष की ओर हो रहा है ।

'सीही' की स्थिति के बारे में हरिरायजी ने अपने 'भावप्रकाश' में लिखा है—"दिल्ली के पास चार कोस उरे में एक सीही गाँव है, वहाँ परीक्षित के बेटे जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है ।" इस निर्देश के अनुसार सीही को दिल्ली से चार कोस की दूरी पर होना चाहिए । इतनी दूरी पर 'सीही' नामक कोई स्थान नहीं मिलता । दिल्ली-मथुरा सड़क पर बल्लभगढ़ के पास जहाँ सीही नामक ग्राम आज मिलता है—उसकी दूरी चार कोस से ज्यादा है । सीही वासियों में अनुश्रुति अवश्य है कि सूर का जन्म वहीं हुआ था और यह भी कि जनमेजय ने यहाँ यज्ञ किया था । दूरी की बात 'दिल्ली' या दिल्ली प्रदेश की घटती बढ़ती भौगोलिक सीमा से ठीक की जा सकती है । इस प्रकार जन्म-स्थान की बात अभी तक के साक्ष्यों पर जो बनती है—वह है 'सीही' के पक्ष में ।

जन्म-तिथि

जन्म-स्थान की भाँति जन्म-तिथि के विषय में भी विभिन्न मत मिलते हैं । जैसे जन्म-स्थान के विषय में 'सीही' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । इस प्रकार जन्म-तिथि का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । केवल अनुमान के बल पर अनेक मतों की चर्चा मिलती है ।

(क) वार्ता साहित्य में '(चौरासी)' ' सूर का उल्लेख तब से आरम्भ होता है जब वे 'गऊघाट' पर रहते थे। सम्प्रदाय मे आने पर ही साम्प्रदायिको को चिन्ता होती है। 'गऊघाट' से पूर्व की शृखला उपस्थित करने की चिन्ता श्री हरिरायजी को हुई और उन्होने 'भावप्रकाश' मे उसे प्रस्तुत किया। गोकुलनाथजी ने 'निज-वार्ता' में कहा है—'सो आचार्यजी सों ये दस दिन छोटे हते'। पुष्टि सम्प्रदाय मे यही मान्यता प्रतिष्ठित है। आचार्य जी का प्राकट्य काल निश्चित है—(स. १५३५—५७ = १४७८ ई.) वैशाख कृष्ण १० उपरान्त ११ रविवार। अत: सूर की जन्म-तिथि सं. १५३५ वैशाख शुक्ल ५ मगलवार है। इस पक्ष की पुष्टि वल्लभाचार्य जी के वंशज श्री भट्ट जी महाराज के 'माधव सुक्ला पचमि ऊपर छएठ् अधिक सुखदाय' से तो होती ही है, भट्टजी के पूर्ववर्ती श्री द्वारकेशजी के भावसंग्रह' से भी होती है। हरिराय जी के सेवक जमुनादास प्रणीत 'गुजरातीधौल' में भी माना गया है— 'आ तारा भा ए दिवस दस महान जो।'

पुष्टि सम्प्रदाय की इस मान्यता की पुष्टि और तर्कों से भी की गयी है। अन्त. साक्ष्य के रूप मे 'सूरसारावली' का सहारा लिया गया है। सूरसारावली का रचनाकाल साम्प्रदायिक सेवा प्रणाली के अनुसार स. १६०२ माना जाता है और उस समय सूर की अवस्था थी ६७ वर्ष की। स., १६०२ मे से ६७ निकालने पर भी १५३५ सं. ही आता है। डा. दीनदयालुगुप्त ने इसी पक्ष मे नाथद्वारे के अनुभव का भी उपयोग किया है। नाथद्वारे मे भी सूर का जन्मोत्सव एक लम्बी परम्परा से वल्लभाचार्य जी के जन्म-दिन के दस दिन बाद (वैशाख बदी ११ के बाद वैशाख सुदी ५) मनाया जाता है। इस प्रकार इस मत का समर्थन 'सूरनिर्णय' कार, डॉ हरवंशलाल तथा डॉ. दीनदयालु गुप्त आदि करते है।

(ख) एक दूसरा पक्ष है—डॉ. मुशीराम शर्मा का। सूरसारावली की उपयोगी पक्ति है—"गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन। शिवविधान तप कर्‌यो बहुत दिन तऊ पार नहि लीन॥"

इन पक्तियों के साक्ष्य पर यह माना जाता है कि 'सूर सारावली' निमाण के समय सूर की अवस्था ६७ वर्ष की थी। महाप्रभु की कृपा से लीला-दर्शन ६७ वर्ष की परिपक्व अवस्था में हुआ। 'साहित्यलहरी' तथा 'सूरसारावली परस्पर आसपास की निर्मित कृतियाँ मानी जाती है। 'साहित्यलहरी' में रचना निर्माण का काल, कूट-पद्धति में किया गया है जिसका अर्थ भेद कर देने से विवाद खड़ा होता है। पक्तियाँ इस प्रकार है -

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संवत पेख।

साहित्यलहरी नंदनंदन हित [मुनि (७) रसन [illegible] ने [illegible] २)

रस (६) तथा गौरीनंदन दसन (१)] १६२७ में की गयी ! अथवा 'रसन' ज्ञानेन्द्रिय ही है, अतः उसका अर्थ १ ही लें, तो १६१७ संवत् हुआ। सरदार कवि और भारतेन्दु दोनों ही 'रसन' का अर्थ एक (१) ही लेते हैं। कुछ लोग 'रसन' में बहुव्रीहि समास मानते हैं और अर्थ करते हैं रस+न=रस नहीं है जिसमे अर्थात् नीरस=शून्य। इस प्रकार इसके तीन अर्थ हुए : १६०७, या, १६१७ तथा १६२७। सुबल को वृषभ संवत् का पर्याय मानकर ज्योतिष गणना के अनुरोध से डॉ. शर्मा १६२७ अर्थ करना पसंद करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि 'गुरु परसाद' वाली रचना दीक्षा-लब्ध लीला-दर्शन के अवसर की है, जो बाद को 'सूरसारावली' में जोड़ ली गयी। अतः 'सूरसारावली' निर्माणकाल में वे ६७ वर्ष के थे, यह सिद्ध नहीं होता। तीसरे 'साहित्यलहरी' की रचना-तिथि को 'सूरसारावली' की रचना-तिथि से एक किस अनुमान पर कर लिया जाता है—यह भी स्पष्ट नहीं है।

(ग) मिश्रबंधु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि का मत है कि 'सूरसागर' समाप्त करने के बाद 'सूरसारावली' लिखी गई। 'सूरसारावली' के समय उनकी अवस्था ६७ वर्ष की थी। साहित्य-क्रीड़ा का ग्रन्थ 'साहित्य लहरी' भी सूरसागर के बाद ही लिखी गयी होगी। दो वर्ष पहले भी यही सूरसारावली बनी, तो उसका निर्माण-काल १६०५ संवत् हुआ। गोस्वामी विट्ठलनाथ का गोलोकवास संवत् १६४२ में हुआ। साम्प्रदायिक विश्वास के अनुसार सूर का गोलोकवास इनसे पूर्व हुआ। अतः संवत् १६०२ से पूर्व तथा सं. १५३५ (अथवा बड़ौदा के संस्कृत विभागाध्यक्ष श्रीभट्ट के अनुसार १५३०) के बाद इन्हीं के बीच सूरदास का जन्म और परलोकवास मानना चाहिए। शुक्लजी का विचार है कि यदि इनकी आयु ८०-८२ वर्ष की मानी जाय तो—

सूरसारावली निर्माण-काल	१६०५
सूर की अवस्था	६७

इस प्रकार = १५३८ संवत् या १५४०

के आस-पास उनका जन्म मानना होगा।

(घ) श्री नलिनी-मोहन सान्याल ने 'भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास' में लिखा है कि उन्हें ऐसे प्रमाण मिले हैं कि सूरदास चैतन्य महाप्रभु के जन्म के एक वर्ष पहले हुआ था और महाप्रभु का जन्म संवत् १५४२ है। इस प्रकार इनका भी अनुमान १५४०-४१ के आसपास ही जाना है।

(ङ) बड़ौदा कॉलेज के संस्कृत के प्रोफेसर श्री भट्ट ने आचार्य वल्लभ के जीवन-विषयक समस्त ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध करना चाहा है कि उनका

जन्म संवत् १५३० मानना अधिक तर्कसंगत है। संवत् १५३५ या १५३६ संदिग्ध है। यदि ऐसा है तो फिर सूरदास जी का भी जन्म संवत् १५३० मानना होगा।

इस तरह सूर का जन्म-काल मतभेदों से आच्छन्न हो उठा है। 'सूरनिर्णय-कार' का झुकाव साम्प्रदायिक वार्ताओं, परम्पराओं और मान्यताओं की ओर सर्वाधिक है—अतः उनका निष्कर्ष स्पष्ट है। मान्यताओं पर क्या तर्क चले ? हाँ, भट्टजी के तार्किक आधारों का उत्तर 'सूरनिर्णयकार' को देना होगा। मुंशीराम जी व इस तर्क का भी उत्तर देना होगा कि 'गुरु परसाद' वाला पद दीक्षा के अवसर का है। 'सूरसारावली निर्माण' के अवसर का ही हो, इसका विनिगमक क्या ? फिर 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' की संगत व्याख्या किस अनुरोध में की जाय ? इस आपाधापी में जब तक कुछ स्पष्ट न हो, तब तक आखिर साम्प्रदायिक मान्यताओं और परम्पराओं को निर्मूल क्यों माना जाय ? 'सूरनिर्णयकार' की स्थापना साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुरोध पर ही व्याख्या करनी है। अतः निराधार अनुमान की अपेक्षा उनके आधार तो है। फलतः फिलहाल १५३५ संवत् वाले मत की ही प्रतिष्ठा है—यद्यपि श्री भट्ट की स्थापना पर खण्डना-त्मुखी प्रतिक्रिया इनकी ओर से अभी तक नहीं मिली है।

नाम : जाति और वंश-परम्परा

हमारे साहित्य के इतिहास में अनेक सूरदास मिलते हैं, परन्तु आलोच्य 'सूरदास' की भी अनेक संज्ञाएं साम्प्रदायिक साहित्य तथा इनकी स्वयम् की रचनाओं में मिलती हैं। सूर की रचनाओं के मिश्रण में अनेक सूरों का शौर्य भी निहित है। अस्तु, सर्वप्रथम इनकी रचनाओं में प्रायः कौन-कौन से नाम मिलते हैं तथा वार्ता-साहित्य में कितनी संज्ञाएं पर्याय रूप में उपलब्ध है—यह देखना चाहिए।

(क) रचनाओं में

(१) **सूर** कहति पिय सौंतियबातें
(२) **सूरदास** प्रभु बिन दुख पावन
(३) **सूरज** चिरजीवौ दोउ भैया
(४) लछमीसहित होति नित क्रीडा सोभित **सूरजदास**।
(५) **सूरस्याम** प्रीतम बिनु राधे. सोचि सोचि कर मीजै।
(६) उक्तिगूढ़ तें भाव उदयसब **सूरज** स्याम सुनावै।
(७) भयौ अंतरगुन **सूरसरस** बढ़ बली वीर त्रिख्यात।
(८) **सूरसुजान** विभावन पहिलौ निकर करत न बेरो॥

(ख) साम्प्रदायिक साहित्य अर्थात् हरिराय जी के 'भावप्रकाश' में कहा गया है—

(१) श्री आचार्य जी आप तें सूर [illegible]।
(२) और श्री गुसाईं जी [illegible]

(३) और तीसरो इनको नाम '**सूरजदास**' है ...... तासों श्रीस्वामिनी जी कहत जो ये '**सूरज**' है।

(४) और श्री गोवर्धननाथ जी ने पचीस हजार कीर्तन आपु सूरदास जी के करि दिये, तामे '**सूरस्याम**' नाम धरे।

सो या प्रकार सूरदास जी के चार नाम प्रकट भये॥

भक्ति के क्षेत्र में शूर की तरह आगे ही बढ़ते रहे, कभी पाँव पीछे नही रखा, इसी कारण आचार्य ने उन्हें 'सूर' संज्ञा दी। गोसाई बिटठ्लनाथ जी ने इनमें दूसरी विशेषता लक्षित की। उन्होंने देखा कि सूर मे दास भाव कभी घटा नही, अहकार विरोधी दैन्य बराबर जमा ही रहा। अनुभव बढ़ता गया, दीनता बढ़ती गयी। श्री स्वामिनी जी ने देखा कि सूर ने अलौकिक भाव वर्णन द्वारा 'स्वरूप' को वैसे ही प्रकाशित किया है जैसे सूर्य जगत् को। अत: उन्होंने इन्हे 'सूर' नाम दिया। इसी प्रकार गोवंधननाथ ने इनमें और ही विशेषता देखी और इनका नाम **सूरस्याम** रख दिया। इस प्रकार ये चार नाम भिन्न-भिन्न निमित्तो से एक ही आलोच्य भक्त-कवि का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुए।

इस प्रकार इनके कुल नाम हुए—सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास, सूर-स्याम, सूरजश्याम, सूरसूरस सूरसुजान। इनके अतिरिक्त सूरज-श्याम-सुजान, सूरज चन्द्र (साहित्य-लहरी) आदि नाम भी मिलते हैं। गवेषको ने इस समस्या पर भी विचार किया है और प्रश्न खड़ा किया है कि ये नाम किसी एक ही व्यक्ति के हैं अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के? यदि एक ही व्यक्ति के हैं तो भी मूलनाम की खोज करनी चाहिए।

डॉ. जनार्दन मिश्र ने अपने 'सूरदास' नाम के ग्रन्थ में कहा है कि 'सूरज, सूरजदास और सूरस्याम' नाम छाप पद प्रक्षिप्त हैं—इन नामों के व्यक्ति आलोच्य सूर से भिन्न हैं। परन्तु डॉ. 'सोम' मुंशी-राम का पक्ष है कि ये सारे नाम एक ही व्यक्ति के है। और, ऐसा मानने का कारण है। कारण एक तो यह है कि पद की लय-मयी शय्या पर जो नाम अनुकूल लगे-जम गये। दूसरा, यह कि सरस-सुजान-श्याम लहराते सागर में इन नामों का छलक पड़ना स्वाभाविक है। तीसरे, मौखिक गान परम्परा में गायक भी भिन्न-भिन्न नाम तरंग में जोड़ सकते है। चौथा, यह कि ये सारे नाम एक ही व्यक्ति के हैं तो मूल नाम क्या था और प्रसिद्धि सूर तथा सूरदास की ही क्यों हुई? सूरनिर्णयकार की धारणा है—अष्ट-सखामृत के आधार पर कि उनका मूल नाम सूरज या सूरजदास था। सूरज का ही संक्षिप्त रूप है—सूर। 'साहित्यलहरी' वाले पद में जो कि अप्रामाणिक माना जाता है (पर डॉ. सोम प्रामाणिक मानते है) सूरज चाँद नाम लिखा है।

वैष्णव परम्परा में चंद का 'दास' हो गया। आचार्य जी इन्हें 'सूर' कहते थे और गुसाईं जी 'सूरदास'—इसलिए ये दो नाम विशेष प्रचलित हुए।

जाति

सूरदासजी की जाति तथा वंश भी कम विवादास्पद नहीं है। सूर की जाति के विषय में अनेक मत उपलब्ध होते हैं—भाट, ढाढ़ी, ब्राह्मण, जाट आदि। (क) भाट—इस मत के उपस्थापक हैं—डॉ. मुंशीराम शर्मा। इन्होंने आधार बनाया है—'साहित्यलहरी' के—"प्रथम ही पृथुजाग ते भै प्रगट अद्भुत रूप।" डॉ शर्मा ने 'सूर-सौरभ' में बताया है कि पृथु के यज्ञ से उद्भूत प्रथम बालक का नाम ब्रह्मा ने ब्रह्मराव रखा और सरस्वती ने उसे अपना स्तन्य-पान कराया। इसी परम्परा में चंदवरदाई भी था और उसी के वंशज सूर थे। इनकी धारणा है कि मूलत भट्ट या 'कवि' ब्राह्मणों के लिए सम्मानास्पद रूप में प्रयुक्त होते थे और बाद में चलकर इस 'भट्ट' शब्द को, जिसका अपभ्रष्ट रूप 'भाट' या 'भाँट' है—जातिवाचक मान लिया गया। इस प्रकार सूर ब्रह्मभट्ट थे। डॉ शर्मा के इस मत को म. म. श्री हर प्रसाद शास्त्री जी द्वारा प्राप्तचंद के वंशधर नानूरामवाली वंशावली से और बल मिला। दोनों (साहित्यलहरीगत तथा नानूराम वाली) वंशावलियों में नाम का पर्याप्त साम्य है। 'साहित्यलहरी' वाली वंशावली का पोषक पद सर्वप्रथम 'ब्रह्म भट्टप्रकाश' नामक ग्रन्थ में हुआ, जिसका उपयोग भारतेंदु ने भी किया और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में सूर की वंशावली भी निर्धारित की। 'साहित्यलहरी' वाली वंशावली में सूर के पिता का नाम नहीं है और नानूराम वाली में है—नाम है—रामचन्द्र। तत्कालीन इतिहास ग्रन्थों में सूर के पिता का नाम रामदास मिलता है। इस पर से डॉ. शर्मा ने यह अनुमान निकाला कि वैष्णव भक्तों में 'चन्द्र' की जगह 'दास' का होना स्वाभाविक है। अतः नानूराम वंशावली का 'रामचन्द्र' और तवारीखों का मुगल दरबारी गायक प्रवर 'रामदास'—एक ही है। इतिहासकारों ने इस रामदास के साथ सूरदास को भी मुगल दरबार से जोड़ दिया है। 'साहित्यलहरी' के सूर प्रणीत वंशावली-परक पद में पिता के नामानुल्लेख का कारण भी डॉ. शर्मा ने पिता का मुसलमान बनकर दरबार से जुड़ जाना अनुमित किया है। इस मत को अनेक कारणों से मान्यता नहीं मिल सकी। एक तो यह कि यह पद ही प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक माना जाता है। जिस सूर ने अन्यत्र कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया, वे 'साहित्यलहरी' में ही क्यों देने लगे? दूसरे रामदास और सूरदास को मुगलदबार से जोड़ना सूरदास के अन्तःसाक्ष्य से विपरीत पड़ता है। दरबार के भौतिक वाक्-चिक्य से दूर रहकर एकान्त भगवदाराधक सूर दरबार के प्रांगण में किस दबाव अथवा प्रलोभन में फँसेंगे? इतिहास भी विरोध

करता है। अनुश्रुतियों में अकबर से एक बार भेंट की बात अवश्य सुनी जाती है। अतः 'रामचन्द्र' को 'रामदास' से एक करना, पिता के नामानुल्लेख का कारण उनका मुसलमान बताया जाना, आदि-आदि अपनी प्रतिष्ठापना के प्रति अतिरिक्त आकर्षण का निमित्त है।

(क २) साहित्यलहरी वाले इस पद में प्रयुक्त 'पृथुजागते' के पाठान्तर भी मिलते हैं—पृथुजगाव, पृथु जागते। अतः किसी ने जगात का अर्थ 'भाट' किया और उसे चन्दवरदाई का गोत्र कहा। वास्तव में 'जगातिया' घाट पर कर वसूलने वाले को कहा जाता है। वास्तव में वह शब्द है—'पृथुजागते' पृथुयशे-से, (पृथु-जगोत)। कुछ लोगों ने इसे 'पृथुजगोत' शब्द माना है और अर्थ किया है प्रार्थजगोत्र। मुंशीराम जी ने 'भाट' और 'ब्राह्मण' को भिन्न जाति नहीं माना है—इसलिए उनकी दृष्टि में 'विप्र-प्रथु' के 'जाग कौ' से उभरते हुए विरोधाभास का समाधान भी कर दिया है।

(ख) श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने ना. प्र. सभा वाले 'सूरसागर' से प्राप्त एक संख्या २१६ पद के आधार पर सूर को जाट सिद्ध करना चाहा है। गवेषकों ने इस आधारभूत पद को उसकी सूर विपरीत ओजस्वी शैली के कारण प्रक्षिप्त माना है और माना है कि यह कार्य किसी आत्मप्रतिष्ठापक का है। सभा के संस्करण में निर्देश भी है कि यह पद १८८६ की छपी केवल एक प्रति में है। 'हरिजूहौं' याते दुखपात्र'।

(ग) यह एक अन्य वर्ग है जो सूर के आत्मनिवेदन-परक अन्तःसाक्ष्य भरने वाले पदों को आधार बनाकर उन्हें ढाढ़ी जाति का सिद्ध करना चाहता है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का कहना है—'उनके अब्राह्मण होने के उपरिलिखित परोक्ष संकेतों के साथ कृष्ण-जन्म सम्बन्धी उन पदों के पढ़ने पर, जिनमें उन्होंने अपने को ढाढ़ी के रूप में कल्पित करके आत्मीयता प्रकट की है—यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भव है कि वे जाति से ढाढ़ी या जगा हों। प्रमाण में जो पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—

(क) हौं तो तिहारे घर को ढाढ़ो सूरदास मेरो नांद।

(ख) हँसि हँसि दौरि मिलै अंकभरि, हम तुम एकै जाति।

(ग) हौ तो तिहारे घर को ढाढ़ी, नाउँ सुनै सचु पाऊँ।

इस मत को भी मान्यता नहीं मिली। विपक्ष में कहा जाता है कि एक तो आत्म-निवेदन परक पदों की 'भावना' सत्य है—व्यंजक तथ्य असत्य भी हो सकते हैं। दूसरे, अष्टछाप के अन्य कवि, जिनकी जाति निश्चित है, वे भी ढाढ़ी हो जायेंगे। उदाहरण के लिए, कृष्णदास, नन्ददास और चतुर्भुजदास को भी लिया जा सकता है—

(क) कृष्णदास वल्लभकुल को ढाढ़ी कीना जनम सनाथ।

(ख) हौं ढाढ़ी कबहूँ न अघाऊँ, यद्यपि नन्द दातार (चतुर्भुजदास)

(ग) नन्ददास नन्दराय को ढाढ़ी भयौ आतिक ढोली (नन्ददास)

तीसरे जिन पदों में सूर को ढाढी कहा गया है उन्हीं में सूर के गृहस्थ होने का भी उल्लेख है जो अत्यन्त विसवादी तथ्य है। चौथे, यह सम्प्रदाय की परम्परा वल्लभाचार्य के समय से चली आ रही है कि श्री नाथ जी के कीर्तनियाँ राधाष्टमी के दिन ढाढ़ी बनते हैं। पाँचवें यह कि उनके कुछ पदों में उच्चजातीयता का भी संकेत मिलते है।

"सूरदास प्रभु तुम्हरी भक्ति लगि तजी जाति अपनी"

यदि शूद्र जाति के ढाडी, जगा आदि होते, तो उसके तजने में क्या गौरव था? कौन कहने की बड़ी बात थी?

(घ) चौथा पक्ष सूर को ब्राह्मण सिद्ध करना चाहता है—कोई सारस्वत ब्राह्मण और कोई प्राच्यब्राह्मण। पहला पक्ष 'सूरनिर्णय' कार का है। ये लोग वार्ता-साहित्य पर आस्था रखते है और उसका लक्ष्य देकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सूरदास सारस्वत थे। सारस्वत का अर्थ केवल सरस्वती पुत्र करना इन लोगों की दृष्टि में संगत नहीं है। सूर को सारस्वत ब्राह्मण मानने में कई तर्क हैं—पहला यह कि गोसाईं जी के छठे पुत्र यदुनाथ जी ने कहा है 'सारस्वत-सूरदासोऽनुग्रहीन:।' दूसरा साक्ष्य है: गोसाईं जी के सेवक श्रीनाथ भट्ट का—'जन्मांधो सूरदासोऽभूत् प्राच्यो ब्राह्मण उन्मर्दे': प्राच्यब्राह्मण का अर्थ पूर्ववासी समझा गया है। कवि प्राणनाथ ने स्पष्ट कहा है—'सारसुतोद्विज तरु सुफलसूर भगत विख्यात' यही स्थिति हरिराय जी की भी है........'महाप्रभुन के सेवक सूरदास जी सारस्वत ब्राह्मण........।"इन समकालीन और सन्निहित व्यक्तियो के वक्तव्य अप्रामाणिक कहे जायें? इन सब तर्कों और प्रमाणों के आधार पर 'सूर निर्णयकार' इन्हे सारस्वत ब्राह्मण मानते है। डॉ. हरबंशलाल जी भी इसकी पुष्टि करते हैं।' उनका विचार है कि दिल्ली के आसपास सरस्वती नदी के किनारे सारस्वत ब्राह्मण ही बसते हैं। उन्होंने डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा की अन्य कल्पना का खण्डन किया है। डॉ. वर्मा ने वार्ता-साहित्य में सूरदास के सारस्वत ब्राह्मणत्व को अनुश्रुतिमूलक और आदर-भावना पर समाधृत मानकर संदिग्ध कर दिया है—परन्तु जब तक और सुपुष्ट तर्कों से इसका खण्डन न हो जाय तब तक सारस्वत ब्राह्मण वाले पक्ष को अमान्य करने का कोई अर्थ नहीं है।

अन्धत्व

इस तथ्य से कि सूरदास अन्धे थे—सबका एक मत्य है, फिर भी विवाद इस बिन्दु पर खड़ा कर दिया गया कि वे जन्मत: अन्धे थे या बाद में? पक्ष-विप—

मे तर्क प्रमाण प्रस्तुत किये गये है । जन्मान्धता के विपक्ष मे लोगों—मिश्र-बन्धु, बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ. बेनीप्रसाद, श्री नलिनी मोहन सान्याल, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, दीनदयाल गुप्त आदि—ने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि सूरदास की प्रभावकारी रूप-योजना, वर्णो की हृदयस्पर्शी योजना, प्रकृति का मनोरम चित्रण, चेष्टाओं, अनुभवों और मुद्राओं का भव्य आयोजन, नेत्रहीन नेत्रमूलक अनुभवहीन व्यक्ति नही कर सकता । इसलिए डॉ ब्रजेश्वर वर्मा ने सूर की जन्मान्धता पर सन्देह करते हुए कई और भी तर्क दिये । इनका अनुमान है कि वृद्धावस्था के निकट वे अन्धे हुए होंगे । दूसरे, चौरासीवार्ता मे उनके अन्धे होने का अनुल्लेख है । तीसरे, वार्ताओं मे अनेकत्र द्वारा 'दर्शन' किये जाने का उल्लेख है । उन्होंने आचार्य, श्री गोकुल तथा श्रीनाथ जी के 'दर्शन किये । सूर-साहित्य के भूमिकाकार भटनागर और त्रिपाठी ने भी माना है कि जहाँ कवि ने अपनी नेत्रहीनता का उल्लेख किया है वहाँ अपनी वृद्धावस्था का भी उल्लेख किया है । इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्रौढ़ावस्था पार करते करते इनमें अन्धता आयी होगी । डॉ. दीनदयाल गुप्त का विचार है कि सूरदास वृद्धावस्था मे नहीं, बाल्यावस्था मे अन्धे हो चुके थे—परन्तु जन्मान्ध नही थे ।

जन्मान्धता के पक्ष मे सूर निर्णयकार ने जमकर तर्क दिये हैं—तर्क तथा अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों का उपयोग किया है । वास्तव मे विरोधी आध्यात्मिक शक्ति का सहारा नहीं लेना चाहते, पक्षधर आस्थावान् है । उन्हें वार्ता-साहित्य पर अकारण अविश्वास नहीं है । वे यह मानते है कि प्रत्यक्ष अदृश्य सौन्दर्य और अननुभूत भाव का भी कवि की अलोक सामान्य प्रतिभा से साक्षात्कार किया जा सकता है और तब क्या कहना जबकि कवि को 'दिव्यदृष्टि प्राप्त हो ।' सूर आर्ष कवि है ।

नानृषि कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात् ।
तत्वप्रख्या च दर्शनम् ॥

ऋषि वह है जिसे 'दर्शन' हो चुका है, ऐसा ऋषि ही कवि हो सकता है । 'दर्शन' से आशय है—भट्टतौत का 'तत्वबोध', तत्वबोध अतत्वनिवृत्ति से ही सम्भव है—अज्ञान निवृत्ति से ही सम्भव है । कहा गया है—

अविद्याबीजविध्वंसादार्षमार्षेण चक्षुषा ।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत् ॥

अविद्या के बीज के विध्वन्स से कवि आर्षचक्षु पा लेता है और इस चक्षु के समक्ष सर्वदा वर्तमान काल ही रहता है—भूत और भविष्य का वर्तमान मे ही लय हो जाता है । सूर को यदि ऐसा आर्ष कवि माना जाय, तब तो कहीं कोई आपत्ति

उनकी जन्मान्धता के बावजूद कुछ भी नही है। क्षणभर के लिए इस आध्यात्मिक चमत्कार को दर किनार भी कर दे, नजरअन्दाज भी कर दे, गज निमीलिका भी कर दे तो भी उनकी जन्मान्धता के पक्ष मे अनेक तर्क और प्रमाण है।

(क) प्रवाह में 'सूरदास' प्रायः जन्मान्ध के लिए ही उपयुक्त होता है। (ग) प्रत्यक्षायमाण वर्णन की क्षमता का ही दूसरा नाम 'प्रतिभा' है—यह कवि की तीसरी आँख है—सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते 'महिमभट्ट' ने कहा है। पण्डितराज ने कहा है, "काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति. प्रतिभा"। सारा साहित्य शास्त्र कहता है कि कवि की प्रतिभा ही उसकी तीसरी आँख है जिससे इष्ट दृश्य को वह कलात्मक ढग से उरेहता है। दशरूपककार ने तो यह स्पष्ट कहा है 'न हि कवयो योगिन.' कवि योगी नही होता कि वह वर्ण्य का व्यक्तिगत साक्षात्कार करता है, प्रत्युत अपनी उत्प्रेक्षा या कल्पना-शक्ति के बल पर परानुभूत-सामान्य भाव को मूर्त करता है। अनेक प्रतिभावान कवियो ने अदृष्ट वर्ण्य का दृष्टवत् वर्णन किया है। यही तो प्रतिभा है जो सामान्य द्रष्टा से कवि को पृथक् करती है? अन्यथा जिस राजकीय परिवेश का सूर ने वर्णन किया है जिस स्त्री हृदय को यशोदा, गोपी के माध्यम मे व्यक्त किया है क्या वह पुरुष हृदय तथा रंक सूरदास का अपना देखा सुना था? फलत. काव्य के चमत्कारी वर्णन का मूल कवि का ही होना नही है—कवि प्रतिभा का होना है। कवि प्रतिभा का चमत्कार सर्वत्र दृष्ट और प्रमाणित है।

(ख) वार्ता साहित्य में 'दर्शन' का अभिधामूलक अर्थ लेना असगत है। वार्ता साहित्य मे शरीर छोड़ते समय गोसाई जी के भी 'दर्शन' की इच्छा सूर को हुई थी। क्या वहाँ 'दर्शन' का अभिधेयार्थ सम्भव है?

(घ) अनुश्रुति भी पक्ष में है।

(ङ) वार्ता-साहित्य में तो सूर को केवल जन्मान्ध माना गया है, प्रत्युत सलपट अन्ध कहा गया है। अर्थात् उनके आँख नाममात्र को भी न थी, बल्कि कुहर रूप मे केवल चक्षु चिह्न थे।

(च) जहाँ तक अन्त साक्ष्य का सम्बन्ध है, अनेक पंक्तियाँ उनकी जन्मान्धता के प्रमाण में प्रस्तुत की जा सकती है—

(१) सूर की बिरियो निठुर होई बैठे जनम अन्ध कह्यौ।

(२) सूरदास सो बहुत निठुरता, नैननि हू की हानि।

(३) रहो जात एक पतित जनम को, अन्धरो सूर सदा को।

(४) करमहीन जनम को आन्धौ, मौते कौन न कारो।

यह अवश्य है कि रचनाओं में कहीं-कहीं उनके मन्द दृष्टि या एकाक्ष होने का भी संकेत है—

'सूरदास की एक आँखि है ताहू में कछु कानौ ।'

× × ×

द्वै लोचन मानित नहि तेउ ।

पर प्रमाणान्तर संगत 'जन्मान्धता' वाले पक्ष को महत्व देना पड़ता है। श्रीनाथ भट्ट ने 'संस्कृत मणिमाला' में कहा है—

'जन्मान्धः सूरदासोऽभूत'

प्राणनाथ ने 'अष्टसखामृत' में कहा है—संकेत से

'बाहर नैनविहीन सो भीतर नैनविसाल'

इतना ही नहीं, रघुराजसिंह ने 'रामरसिकावली' में तथा मियासिंह ने 'भक्त विनोद' में उन्हें जन्मान्ध ही कहा है :

'जन्मत तें है नैनविहीना। दिव्य दृष्टि देखहिं सुखमीना'

'जनम अन्ध द्रगज्योति विहीना। जन निज तक कछु हरषत कीना।'

'भाव प्रकाश' में तो जन्मान्ध कहे ही गये हैं, चौरासीवार्ता में भी दर्शनार्थ आये सूरदास को महाप्रभु 'सूर' ही कहकर सम्बोधित कर रहे थे। निष्कर्ष यह कि सूरदास बाल्यावस्था या प्रौढ़ावस्था से नहीं, वरन् जन्म से ही अन्धे थे।

आर्ष कवि माना जाय, तब तो अन्धेरे को सब कुछ दरसाई।

सूर की रचनाएं भी साखी भरती है कि उन्हे तत्व बोध था और तद्रूपि 'गोपीभाव' की भी उपलब्धि हो चुकी थी

'लगै जो वृन्दावन कौ रंग।

'स्त्रीभाव सहज में उपजै, पुरुष भाव होय भंग।'

'पुरुष तें तियभाव उपज्यौ, सबै उलटी रीति।'

इन सब कारणों से सूर की जन्मान्धता के बावजूद चित्रणगत प्रत्यक्षायमाणता पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

सूर के जीवनवृत्त के अन्य घटक वृत्तान्त

सूरदासजी के जीवन से सम्बद्ध विभिन्न घटनाओं के संकेत साम्प्रदायिक साहित्य में ही मिलते हैं। 'साहित्यलहरी' वाला पद ऐतिहासिक असंगतियों के कारण प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक माना जाता है—अतः तदाधृत वृतान्त विश्वसनीय नहीं है। डॉ शर्मा सोम का इसी आधार पर यह मानना कि सूर समृद्ध कुल में उत्पन्न हुए थे, क्योंकि उनके वंशधर शाह से भिड़ने की हिम्मत रखते थे—ठीक नहीं। अतः अपेक्षाकृत विश्वसनीय साम्प्रदायिक साहित्य का ही आधार लेना पड़ता है, भले ही उसमें अतिरिक्त श्रद्धाभावना के कारण चामत्कारिक घटनाएं जुट गयी हों। अन्य स्रोतों से भी यदि आंशिक संवाद

मिल जाय, तो उतने से ही काम चलाना पड़ेगा। जीवन सम्बन्धी स्थूल वृतान्तों के निर्धारण में अन्तःसाक्ष्य का कोई उपयोग नहीं है।

इस स्थिति मे भाव प्रकाश के साक्ष्य पर इतना ही ज्ञात होना है कि सूर के जनक जननी अत्यन्त दरिद्र थे—इतना दरिद्र कि सबका जीवन-व्यय चलाना उनके लिए सम्भव नही था। किसी प्रकार छः वर्ष तक वे अपने माँ-बाप के साथ रह सके और अन्ततः गृहत्याग कर सीही से चार कोस दूर एक गाँव मे चले गये और एक तालाब के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे आवास करने लगे। बाल्यावस्था में गृह-त्याग के पक्ष में एक तो अन्तःसाक्ष्य के रूप मे 'चल्यौ सवेरौ' जैसे संकेत मिलते हैं और दूसरी ओर बहिःसाक्ष्य के रूप में मियासिह कृत "भक्त विनोद" की सहायता ली जाती है। वहाँ का वक्तव्य कुछ और ढग का है। परन्तु बाल्यावस्था में गृह-त्याग किया, इसकी पुष्टि उससे अवश्य होती है। 'भक्त विनोद' मे तो कहा गया है कि आठ वर्ष की अवस्था में उनका व्रतबंध हुआ। इसके बाद भी उनके माता-पिता उन्हें लेकर तीर्थयात्रा पर चले—इस ब्रजतीर्थ यात्रा के सन्दर्भ में ये भक्ति के आकर्षण से भक्तों के बीच मथुरा मे ही रुक गये। अस्तु ! डॉ. दीनदयाल गुप्त 'भक्त विनोद' के इस वृतान्त को अनास्थेय कहते हैं। अतः भावप्रकाश के अनुसार कहा जाय तो ऊपर वाली कथा को आगे बढाते हुए यह कहा जाता है कि जिस गाँव के निकट वे रहते थे—वहाँ के जमीदार की खोयी हुई १०० गायें सूरदास ने बता दी। फलतः जमींदार के माध्यम से उनकी प्रसिद्धि बढ़ी। कहते हैं कि अठारह वर्ष तक (१५३५ + १८ = १५५३ संवत्) सूरदास वहाँ रहे और तदनन्तर वे आगरा-मथुरा के बीच 'गऊघाट' पर चले गये। तब तक ज्योतिर्विद्या के कारण इनकी पर्याप्त ख्याति हो चुकी थी। स्वामी के रूप में प्रसिद्धि थी। संगीत, शास्त्र, ज्योतिष—आदि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में इनका प्रवेश था और इसकी पुष्टि भी रचनाओं से होती है। इस बीच उन्हें भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अनेक ऊँचे-नीचे दिन देखने पड़े थे। पूर्वस्थान को छोड़कर गऊघाट आने का कारण भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक दारिद्र्य ही रहा होगा—जिससे विरक्त होकर वे गऊघाट चले आये।

'चौरासी वार्ता' में सूर जीवनवृत का शुभारम्भ यहीं से होता है। यहीं आचार्य वल्लभ ने उन्हें दीक्षा दी थी। दीक्षाकाल के सम्बन्ध में विवाद है। इस काल-निर्धारण में 'वल्लभदिग्विजय' तथा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का साहाय्य मिलता है। वार्ता के अनुसार महाप्रभु काशी तथा दक्षिण दिग्विजय की यात्रा मायावाद का खण्डन और भक्ति की प्रतिष्ठा कर अरैल मे ब्रज जाते हुए गऊघाट पर रुके थे। जब पुनः अरैल वापस हुए इसी समय उनके ज्येष्ठ

पुत्र गोपीनाथ का जन्म हुआ। यह तिथि है—आश्विन कृष्ण १२ सं. १५६८। दक्षिण देश में राजसभा वाला शास्त्रार्थ सं. १५६५ ई. में हुआ था। अतः दीक्षा काल १५६५ से १५६८ के बीच लगभग ६७-६८ में ही अनुमानित होता है। एक बात और कि गोसाईं विट्ठलनाथ जी का जन्म सं. १५७२ है। उस अवसर का सूर रचित एक पद है—"श्री वल्लभ दीजैमोहिवधाई"। इससे भी स्पष्ट है कि दीक्षाकाल ७२ से पूर्व ही होगा। एक तीसरा प्रमाण भी है। सूरदास श्रीनाथ जी के कीर्तनियाँ थे। मन्दिर पूर्णतः बनकर स. १५७६ में तैयार हुआ और आरम्भ हुआ था स. १५५६ में। १५६४ में श्रीनाथ जी की प्रतिमा स्थापित की जा चुकी थी। कुछ लोग ७६ की सम्पन्नता के आधार पर इनका दीक्षाकाल १६७७ मानते है, परन्तु तब १५७२ मे गाये गये बधाई वाले पद की संगति किस प्रकार बैठ सकेगी? अतः सूरति निर्णयकार का निष्कर्ष कि इनका दीक्षाकाल सं. १५६७ के आसपास है—सगत प्रतीत होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल १५८० तथा डॉ. मुन्शीराम जी दीक्षाकाल १५८१ मानते है जिनका आधार श्रीनाथ जी के मन्दिर का १५७७ में सम्पन्न होना है।

श्रीनाथ जी के कीर्तनकार रूप में आचार्य द्वारा सूरदास की नियुक्ति होने के बाद से उन्होंने अपना सारा जीवन ब्रज मे ही बिताया। मन्दिर पहले गोवर्धन मे था अतः सूर रहते भी वहीं थे ऐसा नही। कहा जाता है कि पारसोली मे चन्द्रसरोवर के पास गोवर्धन कीर्तन के लिए नित्य आते अवश्य थे।

महाप्रभु के चार शिष्य थे—सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास तथा कृष्ण-दास। महाप्रभु की जल समाधि का संवत् है १५८७। आषाढ़ शुक्ल तृतीय हनुमान घाट, वाराणसी मे सम्पन्न हुई। तत्पश्चात् गोपीनाथ जी पुष्टिमार्ग के आचार्य पीठ पर आसीन हुए परन्तु सं. १५९९ में असमय परलोकवास हो गया। सं. १६०७ मे गोसाईं विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। इन्होंने कीर्तन प्रणाली को व्यवस्थित रूप दिया। श्रीनाथ जी की आठ समय की झाँकियों के अलग-अलग कीर्तनकार नियुक्त हुए—अष्टछाप की स्थापना हुई। इनमें चार आचार्य जी के शिष्य थे और चार गोसाईं जी के।

जनश्रुति है कि अकबर की सूरदास से भेंट हुई थी। डॉ. दीनदयाल गुप्त ने बडे ऊहापोह के साथ यह अवधि सं. १५७८ से स. १५८८ के बीच निर्धारित की है। कहा तो यह भी जाता है कि सूर और तुलसी की भी भेंट हुई थी।

गोलोकवास

भक्तवर सूर की रचनाओं से स्पष्ट है कि उनका जीवनकाल लम्बा था। जीवन के तीनों पन तो बिताये ही थे—परन्तु उनका गोलोकवास कब हुआ—यह विवादास्पद रहा है। जो व्यक्ति स्वयं कहता है—"तीनों पन ऐसे ही बीते केस

भए सिर स्वेत।' इनके गोलोकवास का समय सं. १६२० से १६४२ तक के बीच घटता-बढ़ता रहा है। (१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनकी आयु ८०-८२ वर्ष मानते है और जन्म १५४० तथा अवसान १६२० मानते है। डॉ रामकुमार वर्मा सन् १६४२ मानते हैं। (२) एक सज्जन शाही फर्मानों मे स. १६५१ तक विट्ठलदास का उल्लेख बताते हुए सूरदास जी का गोलोकवास १६५१ बताते है। (३) डॉ. दीनदयाल जी गुप्त यह समय १६४० मानते है। सूरनिर्णयकार ने भी यह समय स. १६४० ही स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि गोस्वामीजी के समक्ष सूरदास का गोलोकवास हुआ और गोस्वामी जी का तिरोधान काल १६४२ है, अतः सूर को १६४२ से पहले ही तिरोहित होना चाहिए। उधर अनेक अन्त तथा वाह्य साक्ष्यों पर सूर निर्णयकार ने यह सिद्ध किया है कि सूरदास सं. १६३८ के वाद तक जीवित थे।

अपना अन्तिम समय समझकर सूरदास जी श्रीनाथ जी की मंगला आरती कर पारसौली चले गये और अपनी चित्तवृत्ति को राधाभाव में लीन कर दिया। पण्डित चन्द्रवली पाण्डेय 'अंजननैन रूप रस माते' को सूर का अन्तिम पद न मानने के पक्ष में हैं।

सूर की रचनाएँ और उनकी प्रामाणिकता

भक्त प्रवर स्वरसिद्ध सूरदास जी के जीवनवृत्त से ज्ञात होता है कि वे वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व भी पद-रचना भी करते थे और गान-कीर्तन भी। महाप्रभुवल्लभ ने तो दीक्षित कर लीला गायक कीर्तनियों के रूप में श्रीनाथ जी के मन्दिर के लिए उन्हें नियोजित ही कर रखा था। महाप्रभु के अन्तर्हित होने के बाद गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की भजन कीर्तन की व्यवस्थिततर पद्धति में भी इनकी पद-रचना सक्रिय थी। यह प्रसिद्ध है कि अन्तिम समय तक रचनारत रहे। स्वाभाविक है कि रचना की इस लम्बी अवधि में उन्होंने प्रचुर मात्रा में पद-रचना की हो। चूँकि आज उनका व्यवस्थित सर्व-संग्रह कहीं एकत्र उपलब्ध नहीं है और इसके साथ ही सूरदास के नाम पर न जाने कितने संग्रह किन-किन संज्ञाओं से बन्द-खुले प्रकाशित-अप्रकाशित रूप में पड़े हुए हैं। मूलवार्ता साहित्य से भी ज्ञात होता है कि इन्होंने 'सहस्रावधि' पद किये थे। 'भावप्रकाश' वाली वार्ता में 'सहस्रावधि' के साथ 'लक्षावधि' का भी उल्लेख मिलता है। कहा तो यह भी जाता है कि सवा लाख पद रचने का संकल्प था—जिसमें से भक्तवर सूर ने लक्षावधि पद रचे और शेष पच्चीस हजार श्रीनाथ जी ने स्वयं सूरश्याम छाप से प्रणीत किये। अस्तु, जो भी हो और सहस्रावधि (सहस्र है अवधि जिसकी अर्थात् ९९९ अथवा सहस्रों की अवधि ९९९९९) तथा 'एल लक्ष पदबन्द' (एक लाख पंक्तियाँ अथवा एक लाख पद) के जो भी अर्थ किये और समझे जायें यह निश्चित है कि दीक्षापूर्व से आरम्भ और अन्तिम समाधि तक रचित होने वाली पद-संख्या पर्याप्त रही होगी। यों 'सूर' के 'सागर' की प्रसिद्धि उनके जीवनकाल में ही हो चुकी थी। खोज विवरण, अनुसन्धान तथा विभिन्न विद्वानों के कथनों का साक्ष्य रखकर सूरनिर्णयकार तथा डॉ. हरवंशलाल शर्मा ने सूर के नाम पर प्रचलित पच्चीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) सूरसारावली, (२) भागवत भाषा, (३) सूर रामायण, (४) गोवर्धन लीला (सरस लीला), (५) भंवर गीत, (६) प्राणप्यारी, (७) सूरसाठी, (८) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद (९) एकादशी महात्म्य (१०) साहित्य लहरी, (११) दशमस्कन्ध भाषा, (१२) मानलीला, (१३) नागलीला, (१४) दृष्टिकूट के पद, (१५) सूरपचीसी, (१६) नलदमयन्ती, (१७) सूरसागर, (१८)

सूरसागर सार, (१९) राधारस केलि कुतूहल, (२०) दानलीला, (२१) ब्याहलो, (२२) सूर शतक, (२३) सेवाफल, (२४) हरिवंश टीका, (२५) रामजन्म। कांकरोली के पुस्तक भण्डार में कतिपय और संग्रहों के उल्लेख मिलते हैं, परन्तु उन सबका समावेश इन्हीं में समझिये। इन रचनाओं में से विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ अप्रामाणिक माने हैं, कई एक का अन्तर्भाव 'सूरसागर' आदि में कर दिया है। सूरनिर्णयकार इनमें से कुल सात ग्रन्थों को सूरकृत मानते हैं—(१) सूर-सारावली, (२) साहित्यलहरी, (३) सूरसागर (४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७ संख्याक रचनाएँ इसी में समाविष्ट हैं), (४) सूरसाठी, (५) सूरपचीसी, (६) सेवाफल, एवं (७) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद (२२ से २५ तक की रचनाओं) को वे प्रामाणिक नहीं मानते। डॉ. दीन-दयालु गुप्त आदि सामान्यतः तीन रचनाओं को सूर की प्रामाणिक कृति कहना चाहते हैं। अनेक विद्वान सूरसारावली तथा साहित्यलहरी के भी विपक्ष में हैं। 'सूरसागर' के विषय में भी विविध सम्भावनाएँ हैं—यह कि वह श्रीमद् भागवत का स्कन्धक्रम से अनुवाद था या मौलिकता से आपादपूरित था अथवा केवल सरस लीला गान संग्रहात्मक था ?

सूरसारावली

इस रचना की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई। यह ग्रन्थ बम्बई और लखनऊ (नवल किशोर प्रेस और वेंकटेश्वर प्रेस) से प्रकाशित सूरसागर के संस्करणों के प्रारम्भ में मुद्रित है। श्री प्रभुदयाल मीतल जी ने इसका पृथक् संस्करण मथुरा से प्रकाशित कराया है। इन मुद्रित प्रतियों के प्रारम्भ में 'सारावली' का परिचय देते हुए लिखा गया है—"अथ श्री सूरदास जी कृत सूरसागर सारावली तथा सवालक्ष पदों का सूची पत्र।" इसी में एक पद है जिसमें कहा गया है कि 'सरसठ बरस' के जीवनानुभव से प्रवीण सूर को गुरुप्रसाद से यह 'दर्शन' (तत्वदर्शन) हो रहा है। यद्यपि विधि विधानपूर्वक शिव की उपासना बहुत समय तक की तब भी इस बन्धन को पार न कर सका। कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग तथा उपासना की विभिन्न विधियों में भरमता रहा, परन्तु जब श्री वल्लभाचार्य ने 'तत्व' श्रवण कराया और 'लीलारहस्य' अनावृत्त किया—तब तपन गयी। तभी से एकलक्ष पद बंद हरिलीला गान करता रहा। उसी सागरायमाण लीलागान का 'सार' है—यह सूरसारावली। इन सब निर्देशों और संकेतों के आधार पर लोगों ने यह समझ लिया कि यह ग्रन्थ सूर सागर की सूची है। डॉ. गोवर्धन नाथ शुक्ल ने बताया है कि महाप्रभु की एक शैली थी कि वे बड़े-बड़े ग्रन्थों की संक्षिप्तिका तैयार कर देते थे। उसी पद्धति पर सूरदास ने भी सूरसागर की एक संक्षिप्तिका तैयार कर दी और उसका

नाम रखा—सूरसारावली। लीलागान की अर्हता सूर को तब मिली जब उन्हें 'तत्व' श्रवण और 'लीलारहस्य' बता दिये गये। तत्व का अर्थ है—आश्रयतत्व, परमात्मतत्व। आश्रय का श्रवण शरणमन्त्र का श्रवण है। नाम श्रवण दीक्षा का पर्वरूप है। मन्त्र श्रवण से जीवगत पंचविध जन्मजात दोषों का निवारण हो जाता है और साधक में शरणागति तथा आत्मनिवेदन की अर्हता उत्पन्न होती है। तभी वह भगवत् साक्षात्कार कर पाता है। तभी वह लीला का रहस्य समझ पाता है। यह लीला वास्तवी और व्यावहारिकी दो प्रकार की है। पहली स्वंसवेद्य है और केवल भक्तों के लिए है और दूसरी जीवमात्र के सामने होने वाली प्रत्यक्ष लीला है। भागवतोक्त सर्गविसर्गादि दशविध लीलाएँ स्वसंवेद्य हैं। सूर में यह सब कुछ हो चुका था—फलतः उन्होंने लीलागान किया था और उसी सागरायमाण लीलागान का सार है—यह सूरसारावली।

डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने आदि ने इसे सूर की रचना नहीं माना है। कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि सूरसारावली के वस्तु-विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वह सूरसागर का सार या सूचीपत्र नहीं है, प्रत्युत एक स्वतन्त्र रचना है। उन्होंने दोनों के वर्ण्य में २७ अन्तर बताये हैं। साथ ही भाषा-शैली की दृष्टि से भी भेद स्थापित किया है और निष्कर्ष रूप में कहा है कि कथावस्तु, भाव, भाषा-शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से सूरसागर सारावली सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती। मीतल जी ने वर्मा जी के प्रत्येक आधार का खण्डन करते हुए यह बताया है कि 'सारावली' सूचीपत्र नहीं है, अतः २७ नहीं, अधिक भी अन्तर हों तो भी उसके सूर प्रणीत होने में कोई बाधा नहीं आती। सारावली सचमुच एक स्वतन्त्र रचना है। रही बात भाषाशैली और रचना का दृष्टिकोण—वे भी बाधक नहीं हैं। साम्प्रदायिक मूल स्वर भी सूर के ही इस कृति में मुखर है। नित्यलीला—वर्षोत्सवलीला, दोनों की भावनाएँ यहाँ मुखर हैं। नित्य की भावना में श्रीकृष्ण नन्दालय में बालभाव से और निकुंज में किशोर भाव से प्रातः से शयन तक लीलाएँ करते हैं। वर्षोत्सव की भावना में भगवान् की प्राकट्यलीला से लेकर हिण्डोलना पर्यन्त षड्ऋतु की लीलाओं का समावेश है—और सारावली में यह सब विद्यमान है (८७० से १०११ पद तक)। पुष्टि मार्गी परम्परा के अनुसार यहाँ भी जन्माष्टमी से ही सेवाक्रम का निर्देश है। इस प्रकार ऊपरी वैषम्य के बावजूद आन्तरिक और तात्विक अन्तः-साम्य यहाँ उपलब्ध है। भाषा-शैली में भी विषमता की ओर डॉ. वर्मा ने ध्यान दिया, परन्तु समानता की उपेक्षा की है। मीतल जी ने विस्तार से इस साम्य की ओर संकेत किया है। फलतः सामान्यतः यह मान्यता सुदृढ़ हो चली है कि 'सारावली' सूर की ही रचना है।

जहाँ तक इसकी कथावस्तु का सम्बन्ध है—इसकी रचना होली के वृहत् गान के रूप में है। इसमें सृष्टिरचना, चौबीसों अवतार की कथा, रामावतार तथा कृष्णावतार का विस्तृत वर्णन, नित्यविहार वर्णन, नित्योत्सव, वर्षोत्सव आदि का वल्लभ सम्प्रदायी दृष्टिकोण से सरस प्रतिपादन है। होली के रूपक रूप में सृष्टि की चर्चा इस दृष्टिकोण का सूचक है कि सारा प्रपंच भगवान् की होरी लीला है—जहाँ कोई भेदभाव नहीं, सर्वत्र एकरसता है। सारावली की रचना का काल मीतल जी सं. १६०२ मानते हैं। १६०२ तक सूर ने जिन पदों का गान (भागवतानुसारी लीला गान, नित्य वर्षोत्सव परक गान) किया था—प्रस्तुत रचना उन सबका सार सर्वस्व है। निष्कर्ष यह कि सारावली सूर की एक सैद्धान्तिक रचना है।

साहित्य लहरी

यह एक चमत्कारपरक रीतिकाव्य है। इसमें दृष्टि कूट पद हैं। यह धारणा गलत है कि 'सूरसागर' में उपलब्ध दृष्टिकूट पदों का यह संग्रह है। 'साहित्यलहरी' के परिशिष्ट में अवश्य सूरसागर के कतिपय दृष्टिकूट पद संकलित हैं, परन्तु 'साहित्य लहरी' का कोई भी दृष्टिकूट पद सूरसागर में नहीं है। फलतः इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाना चाहिए। इसकी भी कोई मूल या सटीक प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है। जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें सरदार कवि की टीका और भारतेन्दु की टिप्पणियाँ हैं।

'साहित्यलहरी' की प्रामाणिकता पर भी विद्वानों ने अंगुली उठाई है। विशेषकर डॉ. वर्मा ने इसके सूर प्रणीत न होने के पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं—(१) इसका उत्स 'भक्ति' नहीं, साहित्यिक भावना है, (२) इसमें राधाकृष्ण के नखशिख वर्णन नहीं है, (३) कतिपय पद शृंगारिक होते हुए भी राधा से असम्बद्ध है। (४) भक्तिभावना से पूर्ण सूरसागर के प्रत्येक पद का रचयिता जीवन के परिपक्व भक्ति भावकाल में ऐसी रचना क्योंकर करेगा ?, (५) जो कवि सूरसागर जैसी रचना में अपने जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इतना उदासीन है वह यहाँ इतना सजग क्यों है ?, (६) गोस्वामी हरिराय ने इसका उल्लेख नहीं किया।

डॉ. मुंशीराम शर्मा, डॉ हरवंशलाल शर्मा, 'सूरनिर्णयकार' आदि महानुभावों ने 'साहित्य लहरी' को भी सूर प्रामाणिक रचना कहा है और विरोधी तर्कों का उत्तर दिया है।

जहाँ तक इन रचनाओं के उत्स का सम्बन्ध है, निःसन्देह दृष्टिकोण साहित्यिक नहीं, साहित्यशास्त्रीय है। इसमें नायिका भेद और अलंकारों का विवेचन है, इसके उदाहरण हैं। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण रस रूप हैं और इस 'रस' के विवेचन में भक्त ही नहीं, आचार्यवल्लभ ने भी दार्शनिक, साम्प्रदायिक तथा साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से किया है। 'सुबोधिनी' में इसके स्पष्ट संकेत हैं। इस-

लिए कृष्ण रस या लीला रस का साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन सोदाहरण यहां किया गया है। विवेचन पक्ष वैसे साहित्य लहरी में गौण है, उदाहरणों का निर्माण ही प्रमुख है—परन्तु इन उदाहरणों के निर्माण में दृष्टि काव्यशास्त्रीय है। अतः यह कहना कि 'साहित्यलहरी' का 'उत्स' कृष्णभक्ति नहीं है—भ्रान्तिपूर्ण है। यदि भक्तिपरक दृष्टिकोण न होता, विशुद्ध साहित्यिक ही होता, तो यहाँ केवल स्वकीया और परकीया के ही अवस्था भेद उदाहृत न होते, सामान्या और कुलटा आदि की भी चर्चा होती। मूल भावना भक्ति की ही है—अतः दूसरे, तीसरे तथा चौथे तर्क निःसार हैं। रहा यह कि जीवनवृत में इतनी आसक्ति क्यों—तो वह भी कोई महत्वपूर्ण विरोधी तर्क नहीं है। रचना में दो ऐसे पद हैं जिनसे उनके जीवनवृत पर प्रकाश पड़ता है—एक वंशावली वाला और दूसरा ग्रन्थ रचनाकाल परक। पहले को लोग ऐतिहासिक विसंगतियों (पेशवा का संकेत) के कारण अप्रामाणिक मानते हैं और दूसरा अप्रत्यक्ष रूप से ही जीवन पर प्रकाश डालता है। यह पद है—मुनि पुनि रसन के रस लेत ·· इसमें दो बातें हैं—(१) रचनाकाल व (२) नन्दनदन दास। पहले पक्ष में विभिन्न मत हैं—१६०७, १६१७, १६२७ तथा १६७७ संवत्। नन्दनन्दन दास के विषय में भी दो पक्ष हैं—कृष्णदास और नन्ददास। सूर के सन्दर्भ में रचनाकाल १६०७ तथा व्यक्ति नन्ददास प्रायः समझा जाता है। यह भी कहा जाता है कि 'साहित्य लहरी' के निर्माण का उद्देश्य रामभक्त नन्ददास को कृष्ण धारा में लाना था। इसलिए इस उद्देश्य से इस ग्रन्थ की रचना की गयी।

अब रही, हरिराय द्वारा इस कृति के अनुल्लेख की बात सो हरिराय जी ने तो सूरसागर का भी उल्लेख नहीं किया। फिर हरिरायजी भक्तों के जीवनवृत्त में दत्तचित्त थे—साहित्यालोचन में नहीं—अतः उनका निषेधात्मक प्रमाण देकर साहित्य लहरी को अप्रामाणिक कहना संगत नहीं है। एक बात और, उस समय भक्ति के क्षेत्र में कृपाराम आदि द्वारा नायिका भेद परक 'हित तरंगिणी' जैसे ग्रन्थों के प्रणयन की वृत्ति उभर चुकी थी। अतः सामान्यतः इसके सूर प्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं है।

सूरसागर

यह एक ऐसी संज्ञा है जिससे अभिहित रचना के सूरदास प्रणीत होने में कोई विवाद नहीं है—फिर भी विवाद इस बात पर है कि उसकी रचनाएँ संख्या में कितनी हैं ? इसकी चर्चा मूलवार्ता, भावप्रकाश आदि में है। कहा तो यह भी गया है कि इनके पदों का संग्रह बादशाह अकबर द्वारा कराया गया था[1]

१ सूरसागर की चर्चा संग्रहात्मक रूप में सूरदास के जीवन काल में ही होती जा रही थी—परन्तु उनके समय की कोई प्रति संप्रति उपलब्ध नहीं है।

सूरसागर की हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है जिसका उल्लेख अनेकत्र अनेक लोगों ने किया है। इस विस्तृत सूची में परिगणित प्रतियाँ दो प्रकार की है---संग्रहात्मक तथा द्वादशस्कन्धात्मक। दोनों प्रकार के संकलनों में पदक्रम का भेद है। विद्वान गवेषकों का अनुमान है कि एक तो यह भी सम्भव है कि आचार्य वल्लभ से भगवान का उपदेश सुनकर उन्होंने लीलागान किया हो और उसका आधार श्री मद्‌भागवत अनुकूल पुराण, रामायण, महाभारत, पाँचरात्र महिता आदि रहे हो। दूसरा यह कि सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की लीलाओं को प्रतिवर्ष नूतन भाव छन्द संवलित कर गाते रहे हो। प्रारम्भ मे ये दोनों संग्रह अलग-अलग लिखे जाते रहे हों, बाद में इनको मिला दिया गया हो जो आज द्वादशस्कन्धात्मक और दशम के पूर्वार्द्ध रूप मे मिल रहे हो। वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर में प्रथम से द्वादश स्कन्ध तक के पद है जबकि लखनऊ के नवलकिशोर वाले संस्करण में दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध की लीलाओं का ही संकलन है। संकलन न जाने कितने प्रकार के हुए होंगे। बहरहाल, संग्रहात्मक प्रतियाँ द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियो की अपेक्षा लगभग १०० वर्ष पुरानी है। संग्रह का पाठ स्कन्धक्रम वाली प्रति के पाठ की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा ब्रजभाषा व्याकरण सम्मत है। संग्रहात्मक प्रतियों का पदक्रम पुष्टि-मार्गीय परम्परा पर अवलम्बित है। संग्रहात्मक प्रतियों में भागवत को भाषाबद्ध कर गान करने का संकल्प नही है। द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियो में पाठ-भेद तथा कुलभेद, दोनों ही मिलते है। संग्रहात्मक प्रतियों का आरम्भ उस पद से होता है जो सूरदास ने नन्दलाल की लीला के रूप में महाप्रभु को सुनाया था।

ब्रज भयौ महरि कै पूत जब बात सुनी

संग्रहात्मक प्रतियों में एक तो स. १६६४ की है। दूसरी नाथ द्वारे १६५८ की है। तीसरी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ वाली है। इनके वर्ण्य विषयो में भी थोड़ा-बहुत अन्तर है। इनमे जनम, पलना. से लेकर विविध विध लीलाओं का गान है। यहाँ कथात्मक क्रम नही है।

स्कन्धात्मक प्रतियों में सर्वोत्तम रूप काशी नागरी प्रचारिणी सभा का है। सूर ने अनेकत्र इस प्रति में कहा है—

> श्री मुख चारिसलोक दए ब्रह्मा को समुझाइ।
> ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ।
> व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कन्ध बनाइ।
> सूरदास सोई कहे पदभाषा करि गाइ।

जिससे प्रतीत होता है कि सूर ने भागवत का भाषानुवाद किया है, परन्तु स्कन्धात्मक प्रतियों के साक्ष्य पर तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरसागर

श्री मद्भागवत का भाषानुवाद नहीं है । दोनों की तुलना से स्पष्ट है कि सूर-सागर के स्कन्ध और भागवत के स्कन्धों में न तो आकार का और न ही अनु-पात गत साम्य है । भागवतकार की भाँति सूरसागर का लक्ष्य कथा कहना नही है, पुराण की शर्तें पूरी करनी नही है—वरन् 'माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ और सर्वतोधिक स्नेह' जैसे बढ़े वही करना है । 'सूरसागर' में भी अन्य स्कन्धो की तुलना में दशमस्कन्ध का पूर्वार्द्ध इतना बढ़ा है कि लगता है शेष स्कन्ध निर्वाह मात्र है—सूर की प्रतिभा का क्षेत्र मुख्यत: दशम स्कन्ध ही है । सूर-निर्णयकार का कहना है कि भागवतानुसार सूरसागर रचने के संकल्प का आशय यदि उपलब्ध प्रतियों को दृष्टिगत कर देखा जाय तो केवल यही हो सकता है कि सूर ने व्यास की समाधि भाषा का ही रूपान्तर प्रस्तुत किया हो, लौकिक और परमत भाषा का नहीं । लौकिकी भाषा वह है जो सूत द्वारा ऐतिहासिक चरित्र रूप से कही गयी है । परमत भाषा वह है जो ऋषि-मुनियों के मतो के रूप में प्रस्तुत की गयी है । समाधिभाषा वह है— जो व्यास की समाधि मे साक्षात्कृत को ध्वनित करती है । व्यास शुकदेव की वही भाषा है । सूर ने भी उसी पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की, समाधिदृष्ट लीलागान किया । मध्यकालीन वैष्णवों-भक्तो और आचार्यों ने इसी भाषा को प्रमाण रूप में स्वीकृत किया था और तदनुसार भक्ति के रूप प्रस्तुत किये । उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त ('समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम्') व्यास की समाधि भाषा ही चतुर्थ प्रमाण थी ।

भागवत से सूरसागर की स्कन्ध क्रम से तुलना करने पर जो निष्कर्ष स्पष्टत: निकलते हैं वे ये कि भागवत की कथा को (दशम स्कन्ध से भिन्न) स्कन्धों में सूर ने केवल हरि तथा हरिभक्तों का यशोगान मात्र करने के लिए लिया है । अत: उनमें केवल अवतारों की ही कथा कही गयी है—अन्य पौरा-णिक आख्यान छोड़ दिये गये हैं—ये वर्णनात्मक अंश कम है और अपेक्षाकृत अरोचक है । सूरसागर में अन्य पौराणिक आख्यानों, लक्षण निर्वाहों से भी अधिक भागवत की उपेक्षा दार्शनिकप्रसगो की हुई है । भक्ति की महिमा प्रमा-णित करने में सूर ने भागवत की तार्किक पद्धति का नहीं, प्रत्युत भावात्मक पद-शैली का उपयोग किया है । दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में भी वर्णनात्मक अंश है, परन्तु अन्य स्कन्धों की अपेक्षा सूर की प्रतिमा हर स्तर और दृष्टि से रमती है । इन लीलाओं में कुछ भागवती भी हैं और कुछ मौलिक भी । दशमस्कन्ध का पूर्वार्द्ध कृष्णलीला का एक गीति प्रबन्ध लगता है । भागवत में राधा का नामोल्लेख तक नहीं है । संकेत हो न हो, सूरसागर में राधा ही धुरी है । सूर-सागर की गोपियों का भाव भी भागवत की गोपियों के भाव से भिन्न भूमिका

पर विकसित है - भिन्न इस मानें में कि भागवत की समाधि भाषा का यहाँ अपनी साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार पल्लवन ग्रहण है।

वैष्णव धारा—भक्ति-आन्दोलन

वैष्णव धारा का सम्बन्ध 'विष्णु' से है और 'विष्णु' का उल्लेख ऋग्वेद से ही मिलने लगता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम कहे जाने वाले अंशों का मुख्य स्वरूप भक्ति-भावना या उपासना की तुलना में याज्ञिक कर्मकाण्ड का है। इसी सन्दर्भ में स्तुतिपरक स्मारक ऋचाओं का निर्माण है। अतः यह तो सही है कि पुराणों में या मध्ययुग में देवों के प्रति 'भक्ति' का जो निरपेक्ष और स्वतन्त्र रूप है—वह वहाँ नहीं है—परन्तु कोई रूप ही नहीं है— ऐसा नहीं। इसीलिए कतिपय चिन्तक आराधना के दो रूप कल्पित करते हैं—अमूर्त और मूर्त। पहले का सम्बन्ध वैदिक चरण परम्परा से और दूसरे का देवालयीय परम्परा से। यह भी सही है कि ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि सविता एवं वरुण आदि के सम्बन्ध में जितने सूक्त मिलते हैं—उतने विष्णु के सम्बन्ध में नहीं—तथापि सम्भव है कि आर्यों की किसी टोली में विष्णु का ज्यादा महत्व रहा हो। इसी के साथ-साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त, जो अपेक्षाकृत परवर्ती कहे जाते हैं (प्रथम एवं दशम) उनमें प्राचीनतम अंशों की तुलना में सर्वेश्वरवाद या एक ईश्वरवाद पर बल है। इस विवरण से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) विष्णु का आर्यों की विशेष टोली में महत्व था।
(२) परमदेव के वे भी एक रूप थे।
(३) भक्तिभाव के आलम्बन थे।

दूसरी समस्या यह है यद्यपि वैष्णव धर्म की अपेक्षा शैव-धर्म में आर्येतर प्रभाव के जितने प्रमाण मिलते हैं—वैष्णव धर्म के प्रति उतने प्रभावाधिक्य के प्रमाण तो नहीं है, परन्तु गौर आर्यों का सात्विक देव काला क्यों? ऋग्वैदिक विष्णु सूर्य का रूप है जो भास्वर एवं शुक्ल है। दिनकर जी ने एक और प्रश्न खड़ा किया है। यदि समूचा का समूचा उपलब्ध साम्प्रतिक रूप आद्योपान्त आर्य ही होता तो किसी न किसी रूप में उसका उल्लेख आर्य साहित्य में मिलता, परन्तु न ऋग्वेद में गोपालकृष्ण का उल्लेख है और न राधा का। पं. करुणापति त्रिपाठी ने दूसरे प्रश्न का समाधान देते हुए कहा है—"वेदों में विष्णु के

[**टिप्पणी** : पं. जवाहर लाल चतुर्वेदी नित्योत्सव, वर्षोत्सव तदुपरिवसन्त धमार से सूर साहित्य का उद्गम मानते हैं—जो पहले संग्रहात्मक रूप में लिखा गया। बाद में एक स्कन्धात्मक रूप में प्रकट हुआ। साहित्यलहरी तथा सूर-सारावली को ये भी अप्रामाणिक मानते हैं।]

स्तवनीय और वंदनीय रूप की चर्चा वैदिक देवता के रूप में की गयी है। परन्तु इसके साथ ही साथ ऐसे वर्णन भी है जहाँ कृष्ण, राधा, देवकी पुत्र, राम और सीता—आदि शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न सन्दर्भों तथा पौराणिक संज्ञाओ से इतर अर्थ में हुआ है—इत्यादि"। त्रिपाठी ने डॉ. रामनरेश वर्मा द्वारा लिखित 'हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका' शीर्षक शोध प्रबन्ध की भूमिका मे बड़े विस्तार के साथ विष्णु के दोनों पौराणिक रूप—राम एव कृष्ण—से सम्बद्ध तमाम पौराणिक एवं मध्यकालीन कथात्मक कल्पनाओं के मूल सकेत वैदिक आर्य वाङ्मय से ढूँढ़कर एकत्र किये हैं—जिज्ञासु जन विस्तार वहाँ देख सकते हैं। इस विस्तार में दिनकर जी की प्रथम शंका का समाधानात्मक सकेत भी मिल सकता है।

ऋग्वैदिक विष्णु के पौराणिक एव मध्यकालीन कृष्णात्मक विकास के विभिन्न स्रोत श्री आर. जी. भण्डारकर ने ढूँढ़ निकाले है। उनकी स्थापना है कि वैष्णव धर्म तीन तत्वों के योग से उत्पन्न हुआ है। पहला तत्व तो ऋग्वेद में उपलब्ध सूर्य के पर्याय या अर्थ रूप मे प्रयुक्त स्वयं 'विष्णु' शब्द ही है। दूसरा तत्व जो इस धारा में आकर मिला—वह है महाभारत के नारायणीय उपाख्यान का नारायण धर्म। तीसरा तत्व है (सात्वत) वासुदेव मत का है। डॉ भण्डारकर की धारणा है कि इन्हीं तीन तत्वों के मेल से समुत्पन्न वैष्णव धर्म, वैष्णव धर्म है। कृष्ण के ग्वाल रूप की कल्पना और उनके साथ राधा के साथ उनके प्रेम की कथा बाद मे आयी और शायद आर्येतर जातियों से। दिनकर जी का भी विश्वास है कि वैष्णव धर्म के समग्र विकास मे प्राग्वैदिक धार्मिक परम्पराओं का भी योग है। आचार्य क्षितिमोहन सेन को भी शंका है कि यदि विष्णु अपनी समग्रता में आर्य देवता होते तो व इन्द्र के अनुज न होते, भृगु का पादाघात न होता, अवरज कृष्ण इन्द्र का विरोध न करते। सुनीतिबाबू की धारणा है कि ऋग्वेद का सूर्य विष्णु द्रविड़ों के सम्पर्क में आकर उनके उस आकाश देव से मिल गया, जो आकाश के ही समान नीला अथवा श्याम है और जिसे तमिल भाषा में 'त्रिन्' कहा गया है। आवश्यकता है एक ओर इन शंका-ग्रस्त स्थापनाओं के रखने की और दूसरी ओर त्रिपाठीजी के चिंतन पर विचार करने की। निस्संदेह त्रिपाठीजी की स्थापना में दम है और विरोधी मान्यताएँ विचारणीय हैं।

पं. परशुराम चतुर्वेदी की एक उल्लेखनीय धारणा यह है कि उपनिषदों में जो यज्ञ विरोधी तथा आत्मान्वेषी आन्दोलनों का स्वर सुनायी देता है—उसमे सबसे ऊँचा स्वर है—भक्ति का। कारण, कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि यह आत्मा बलहीन द्वारा लभ्य नहीं है। इसकी उपलब्धि मेधा और बहु-

श्रुतना से भी सम्भव नहीं है—बल्कि इसे तो वही प्राप्त कर सकता है जिसे यह स्वयं वरण कर ले। गोस्वामी तुलसीदास ने 'यमेवैषवृणुते तेनैव लभ्य:''—का ही रूपान्तरण करते हुए कहा है—''सो जाने जेहि देहु जनाई'' कहा है। इसमें भक्ति के सर्वातिशायी रूप की भी छाया मिलती है। यही पूजन पद्धति 'सात्वतविधि' कहलाने लगी, जिसके प्रचारकों में कृष्ण भी थे। यही कारण है कि आगे चलकर इसका नाम वासुदेव धर्म पड़ गया और हरि का स्थान क्रमश. वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया। अन्ततः विक्रम् संवत् पूर्व तीसरी शती तक इसकी विधि पाँचरात्र पद्धति मे परिणत हो गयी और इसका नाम भागवत धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया।

डॉ. रामनरेश वर्मा का मत है कि प्राचीन भारत मे जो विभिन्न धार्मिक केन्द्र थे—देवालय उनमें से एक मुख्य है। इन देवपूजकों की वैष्णव परम्परा मे भृगु के अनुसार वैखानस, 'पांचरात्र' तथा 'भागवत' तीन शाखाएँ थीं। इनमे से वैखानसों का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की औरवेय शाखा से, पांचरात्र काश्मीरागम से तथा 'भागवत' का सात्वतों से सम्बन्ध है। 'वैखानस' का प्रभाव उत्तर भारत मे नहीं है। उसका वाङ्मय भी कम उपलब्ध है। पांचरात्र वाङ्मय की जयाख्य संहिता प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें चतुर्मुख विष्णु ही परमाराध्य हैं। भागवतों मे चतुर्व्यूह की पूजा का विधान है। दक्षिण के सात्वत भागवतों अर्थात् पांचरात्रिकों ने 'द्रविड़ प्रबन्ध' को महत्व दिया है। उत्तरापथ के वैष्णव लोकमत की दो विशेषताएँ थीं—दशावतार वंदना तथा राधाकृष्ण का प्रेम। पहले की उपलब्धि वैष्णवागमों (वैखानस-पांचरात्र) में होती है और दूसरे की आभीर जाति की उपासना से।

पण्डित बलदेव उपाध्याय ने भारतीय वैष्णव आन्दोलन के कुल तीन युग निर्धारित किये हैं—

१. सात्वत युग—१५०० ई. पू. से गुप्त राज्य तक ५०० ई.

२. आलवार युग—७००-१४०० ई.

३. आचार्य युग—मध्ययुग १४००-१९०० ।

प्रथम युग सात्वतों के उदयकाल से लेकर गुप्त-काल तक विस्तीर्ण है। भागवत धर्म की उदयभूमि है—मथुरा। सात्वत वंशी क्षत्रियों की यही भूमि है। इसी वंश में कृष्ण का उद्भव है। चतुर्व्यूह का नामकरण इसी वंश के चार विशिष्ट व्यक्तियों के नाम पर है। कालान्तर में यही सात्वत वंश शूरसेन मण्डल से हटकर दक्षिण तथा पश्चिम की ओर अपना उपनिवेश बनाने लगता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' इस स्थिति का साक्षी है। इस धर्म को उत्तर भारत से दक्षिण भारत मे पहुँचाने वाले सात्वत ही हैं।

शिशुनाग तथा मौर्यवंश के अधःपतन के बाद आने वाले शुंगवंशी राजे वैष्णव धर्म के परम उन्नायक थे। इसी काल में मध्य भारत तथा पश्चिमी भारत में वैष्णव धर्म का विशेष अभ्युदय लक्षित होता है। विदिशा में गरुड़ स्तम्भ का संस्थापक यूनानी राजदूत हेलियादोर परम भागवत था तथा वह शुंगवंशीय नरभतिभद्रक के काल में दूत बनकर आया था। इसी अवधि के अन्तर्गत आने वाला गुप्तकाल वैष्णव धर्म का स्वर्णयुग कहा जाता है। ये 'परमभागवत' कहे जाते थे। कहा जाता है कि प्रभावती इसी कुल की राजकन्या थी—जिसका गुप्तों ने वाकाटक वंशी राजा से सम्बन्ध स्थापित किया और यह सम्बन्ध वैष्णव धर्म के समुत्थान में उपयोगी बना। परन्तु यह मानना कि उत्तर एवं दक्षिण में वैष्णव धर्म के सेतु रूप में प्रभावती ही है—यह अवधारणा ठीक नहीं है। द्रविड़ इतिहास के विशेषज्ञ डॉ० आयंगार का कहना है दक्षिण में वैष्णव धर्म के सेतु एवं संस्थापक स्वयं सात्वत हैं।

गुप्तकाल में वैष्णवों का प्राबल्य था, किन्तु सप्तम शताब्दी से उत्तरापथ में इनको राज्याश्रय बहुत कम मिला, तथापि सामान्य जनता के बीच इसका प्रभाव बना रहा। प्रतिहारों का वह शिलालेख प्रमाण है जिसमें जनसाधारण द्वारा निर्मित दस वैष्णव एवं एक शैव मन्दिर का उल्लेख है। विपरीत इसके शैव मत राज्याश्रित हो चुका था। मिहिरकुल, यशोधर्मा, हर्ष, कल्चुरी वंशीय सम्राट, तथा कदम्ब गुहाधिवासी, मत्तमयूर वंश, गोलकी मठ, रणिपद्रमठ, साधुमतेय मठ, करंजखेट मठ, वाल्कलेश्वर मठ आदि के शैव सिद्धान्त की परम्परा पंजाब, वाराणसी, सम्पूर्ण डाहल मण्डल, मध्य भारत, अवन्ती, राष्ट्रकूट साम्राज्य, कर्णाटक, आन्ध्र तथा तमिल देशों में व्याप्त थीं। इस प्रकार उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण भारत भी पूर्व मध्यकाल तक शैव प्रभावापन्न था। आश्रयदाता राजाओं के उच्छिन्न हो जाने पर भी मध्यम शिक्षित वर्ग में वैष्णव, प्रभाव बना रहा और परिस्थिति का आनुरूप्य मिलते ही जनता के हृदय में स्थित वैष्णव भावना उभर आई। इस काल की वैष्णव भक्ति समस्त भारत में व्याप्त हो गई और शैव प्रभाव उतरता गया। उत्तर मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन का भारत व्यापी आन्दोलन इसका साक्षी है। जनता के स्तर से, उसके सामूहिक जीवन से लगाव रखने वाले इस आन्दोलन ने सामाजिक जीवन को ही रूपान्तरित कर दिया। इसी परिवर्तन और प्रभाव का स्वर है—

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।"

मध्यकालीन उदित वैष्णव भक्तिधारा का जो इतिहास यहाँ प्रस्तुत किया गया है—उससे स्पष्ट है कि उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति की धारा निःशेष नहीं हुई

थी। अतः इसे सर्वथा दक्षिण का ही न्यास नहीं कहा जा सकता। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र 'भक्ति उपजी द्राविडी' का अर्थ इतना ही मानते हैं कि दक्षिण से आने वाली भक्ति में अतिराग का समावेश हो गया था। इस अतिराग सम्वलित दक्षिणी भक्ति का सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश से अवश्य है। साथ ही जैसाकि पहले अनेक बार कहा जा चुका है कि मध्यकाल में तान्त्रिक या आगमिक साधना नाना रूपों में सक्रिय और जागरूक थी। यह साधना शक्ति प्रधान थी—शक्ति रागात्मक एवं आनन्दमयी थी। 'भक्ति' की मध्यकालीन धारणा में यह उत्तरोत्तर अन्तः प्रविष्ट होती गई। डॉ. रामनरेश वर्मा का यह विचार कि देवालमीय परम्परा की भक्ति धारा के तीन रूप हैं—मर्यादावादी, शास्त्रवादी एवं रसवादी—सर्वथा और सर्वांशतः मुझे स्वीकार्य नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि इस काल की 'भक्ति' तान्त्रिक प्रभावापन्न है और उत्तरोत्तर समाज निरपेक्ष तथा अन्तरंग होती गई है—उसका सर्वाधिक समाज या लोक सापेक्ष रूप मर्यादावादी भक्ति में तथा नितान्त वैयक्तिक और अन्तर्मुखी रूप रसवादी भक्ति धारा में व्यक्त है। शास्त्रवादी धारा मध्य स्थिति की है।

इस प्रथम युग एवं तृतीय युग के बीच का द्वितीय भक्ति युग आलवारयुग के नाम से प्रसिद्ध है। इस द्वितीय युग में जबकि दक्षिण के आलवारों में भक्ति उत्तरोत्तर, प्रगाढ़ हो रही थी—उत्तरी भारत में अनेक, प्रभावों को आत्मसात् करती हुई वैष्णव भक्ति पौराणिक ऋषियों द्वारा समृद्ध की जा रही थी। इस विशिष्ट समन्वय के केन्द्र देवालय भी थे। देवालय न केवल जनता के रागमुखी मार्ग को ही शरण दे रहे थे, प्रत्युत पण्डितों एवं व्यवस्थावादियों की वैध मार्ग या वैधी भक्ति को भी अपना रहे थे। यद्यपि कहीं न कहीं तान्त्रिक समन्वय के उपक्रम उभयत्र सक्रिय थे।

भक्ति का यह मध्यवर्ती उत्थान दक्षिण भारत के तमिलनाडु प्रदेश में उपलब्ध होता है। इस युग का आरम्भ होता है—आलवार सन्तों से और अन्त होता है—वैष्णव आचार्यों से। आलवार शब्द का अर्थ ही है—भगवद् भक्ति में रसलीन व्यक्ति। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है इसका लोकोन्मुखी रूप—जन-आन्दोलन का रूप। दक्षिण वैष्णव-वातावरण में शास्त्रज्ञान से शून्य सामान्य साधक जनों की अन्तरात्मा में जो भक्ति का अद्भुत प्रवाह और प्रभाव उमड़ा उसने शताब्दियों सुगन्धित कर दी—देश को सुवासित कर दिया। आवेश के स्वतः स्फूर्त गीत तमिल वेद या 'पंचम वेद' बन गये। इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जाति व्यवस्था की भेदक दीवाल ढहा दी।

आलवारों के इतिहास में शठकोपाचार्य का महत्व अत्यधिक है। इनके बनाये हुए चार ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा वेद समकक्ष माने जाते हैं। इनके पद

मन्दिरों में प्रेम से गाए जाते हैं। आलवार युग के अनन्तर भक्ति आन्दोलन के इतिहास में आता है—आचार्य युग। दशम शताब्दी के आसपास संस्कृतज्ञ मनीषियों ने अपना योग देना आरम्भ किया। इनका काम था तमिल वेद तथा वेद और प्रस्थान का समन्वय स्थापित करना। इन आचार्यों में उल्लेख्य हैं—नाथ मुनि—जो शठकोपाचार्य की शिष्य परम्परा में माने जाते हैं—शठकोपमधुर-कवि—परांकुश मुनि—नाथमुनि। इनका 'न्याय तत्व' नामक ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इन्हीं नाथ मुनि के पौत्र थे—यामुनाचार्य। रामा मिश्र के बैकुण्ठगामी होने के बाद यामुनाचार्य ही श्रीरंगम् के आचार्य पीठ पर आसीन होकर वैष्णव मण्डली का नेतृत्व करने लगे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। इसी परम्परा में श्रीरामानुजाचार्य आये—जो यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैल पूर्ण के भागिनेय थे (१०१७-११३७ ई.)।

भक्ति आन्दोलन का तृतीय युग उत्तर भारत में आलोच्य काल के अनन्तर होता है। इस युग की दो मुख्य शाखाएँ हैं—रामशाखा तथा कृष्णशाखा। परन्तु हम विचार करें—१००० से १४०० की आलोच्य कालावधि की सामित्र परिस्थितियों को आकलन करलें।

मध्यकाल की यह भक्ति न तो इस्लामी रूपान्तरण है, न मिश्रित हिन्दुस्तानी। प्रत्युत अपने स्वाभाविक क्रम में विकसित भारतीय वैष्णवी भावधारा है। इसके आलम्बन हैं—नृसिंह, राम, कृष्ण एवं विट्ठल। निश्चय ही इस नये आन्दोलन में न तो गुप्त युग की सामंती छाया थी और न ही राजपूती—यह विशुद्ध जनता के बीच में उठे हुए सन्तों के आलोक में अपना युगानुरूप रूप निर्माण कर रही थी। डॉ. रामरतन भटनागर की स्थापना है कि एक प्रकार से यह वैष्णव धर्म और संस्कृति बौद्ध धर्म और संस्कृति से विकास, विलयन और विरोध के तीन तत्वों से सम्बद्ध है। उनका ख्याल है कि दक्षिणी, पश्चिमी भारत में ही नहीं, मगध, बंगाल एवं उड़ीसा में भी बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म से विरोध होता गया—यथासम्भव ब्राह्मण धर्म उनकी सारवान् अच्छाइयों को आत्मसात् करता गया—निष्प्राण बाह्य ढाँचे को मुस्लिम आक्रमणों ने ध्वस्त कर दिया। १२वीं शताब्दी के आसपास यह प्रक्रिया घटित हो रही है और पन्द्रहवीं शती में वैष्णव मेघ की धारासार वृष्टि हिन्दी साहित्य में आरम्भ हो जाती है। मध्य की दो-तीन शताब्दियों में क्या हो रहा था—यह विचारणीय है। बात केवल वैष्णवों द्वारा बौद्ध प्रभावों के ही आत्मसात् करने तक नहीं है, शैव और शाक्त मतों ने भी समय देखकर राम और राधा-कृष्ण को प्रतीक रूप में लेना आरम्भ किया। शैव मत के शिव 'राम' और शाक्त मत की शक्ति 'राधा' से प्रतीकित हो रहे

थे। तान्त्रिक ढाँचा तो पहले से ही अनुस्यूत था। एक तरफ, तंत्रालोक मे कहा गया—

एष स्रमो व्यापकोऽत्र शिव: परमकारणम्। १।८८

ऊपर नाथ या सिद्ध धारा के प्रसंग में भी 'राम' की उपासना की चर्चा की जा चुकी है। राम का यह रूप निर्गुण है। इसकी शृंखला सन्तो से जोड़ी जा सकती है। दूसरी ओर—

अहंच ललिता देवी राधिका या च गीयते
अहंच वासुदेवाख्यो नित्यम् कामकलात्मक:।
सत्यम् योषित्स्वरूपो हं योषिच्चाहम् सनातनी।
अहंच ललिता देवी पुंरूपा कृष्ण विग्रहा।
आवयोरन्तरम् नास्ति सत्यम्, सत्यम् हि नारद।

यह है—पद्मपुराणन्तर्गत पातालखण्ड मे श्रीकृष्ण का कथन। वज्रयानियों के प्रज्ञा और उपाय ही सहजिया वैष्णवों में राधा-कृष्ण हो गये। निष्कर्ष यह कि शैव एवं बौद्ध साधनाएँ राम एवं कृष्ण के प्रतीको में विलीन हो गयी। यह कहने की कोई आवश्यकता नही है कि तान्त्रिक शक्ति प्रधान साधना सातवी-आठवीं शती से ही सबका मूल ढाँचा बन गयी। इसीलिए मध्यकालीन भक्ति विशुद्ध आगमिक भक्ति है। शंकराचार्य का वैष्णवाचार्यो ने इसलिए खण्डन नही किया था कि वे द्वैतभाव विरोधी थे, प्रत्युत इसलिए कि उनके अद्वैत दर्शन में चिन्मयी शक्ति या महामाया की कही स्थिति नहीं थी। भक्ति की मध्यकालीन धारणा का वही चिन्मयी शिवाश्रित शक्ति ही मूल रूप थी—जो सीता तथा राधा जैसी अह्लादिनी भक्ति के रूप में उत्तरोत्तर ('रसधारा' में) प्रकटतर होती गयी।

हाँ, तो देखना यह है कि बारहवीं शताब्दी से एक ओर शैव तथा बौद्धों का विलयन और दूसरी ओर वैष्णव धारा का समुत्थान—इन दोनो की आन्तरिक घटनाएँ क्या हैं?

यह तो स्पष्ट है कि रामानुजाचार्य तमिल प्रदेश से राज-कोप भाजन होकर मैसूर आ गये और अपना प्रचार केन्द्र इसे बनाया। यही विट्ठलोपासना आरम्भ हुई—जो महाराष्ट्र तक विकसित हुई। दूसरी ओर नाथ सम्प्रदाय के सन्तो ने भी अपनी योग धारा का प्रचार-प्रसार का क्षेत्र महाराष्ट्र को बनाया। वातावरण वैष्णव भावना का था—दूसरी साधनाओं को गुणीभूत होना पडा। योगधारा भक्तिधारा का अंग बन गयी। बारकरी के ज्ञानदेव—नामदेव इसी धारा के संत थे। ये ही कार्णाट राजे बंगाल-उड़ीसा की तरफ भी सेनवंश के बाद गये थे। सेनो ने ब्राह्मण धर्म की जड़ जमा ही दी थी। कार्णाटों ने उसे वैष्णव धर्म

के प्रचार के अनुरूप पाया । स्वयं सेन वैष्णवोपासक थे । जयदेव और उमापति, इन्हीं सेन वंशी लक्ष्मणसेन से सम्बद्ध हैं ।

इस्लाम के आतंक से अब उत्तर भारत आक्रांत हो चुका था । उत्तर भारत में तेरहवीं शती भयंकर रक्तपात की शती है जिससे सदियों सन्तों का हृदय रीता रहा । चौदहवीं शताब्दी में हमें पंजाब में स्थानान्तरित नामदेव तथा काशी में रामानन्द दिखायी देते हैं— जो संक्रान्तिकाल के पूरक और महावेत्ता हैं । इस युग के इन दो प्रमुख उन्नायकों की पृष्ठभूमि में दक्षिण के आलवार, कर्णाटक के हरिदास तथा महाराष्ट्र के वारकरी सन्तों की संस्थिति नितान्त स्पष्ट है ।

उत्तर भारत में गुजरात शांकर प्रभाव से आक्रांत था—इतर द्वैतवादी वैष्णवों की सुगन्ध ने इस प्रदेश को सहिष्णु और उदार तो बना ही दिया था । राजस्थान काफी समय (१५वीं तक) तक शाक्तों, नाथों एवं शैवों के प्रभाव में रहा है । सम्भव है, गाहड़वाल राजाओं की जो पराजित शाखा जोधपुर में आकर बस गयी थी वह वैष्णव भक्तिधारा अपने साथ लेती आयी हो और मेड़ता में भी उसकी एक शाखा स्थापित करली हो । मीरा इसी मेड़ता-वंश से सम्बद्ध थी । पश्चिमी राजस्थान की यह कृष्णभक्ति—जो मीरा में थी—सम्भव है वह ब्रजसम्प्रदायी साधना से कुछ भिन्न रही हो—अर्थात् उसमें यौगिक साधना का भी प्रभाव रहा हो। पूर्वी राजस्थान में अलबत्ता रामानन्द के प्रभाव से आमेर राज्य के गलता नामक स्थान में वैष्णववादी की स्थापना हो चुकी थी । वैष्णवों में यह उत्तर तोताद्रि के नाम से प्रसिद्ध था ।

पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में जहाँ तक सरहिंद का सम्बन्ध है—यह क्षेत्र नाथों और सूफियों का केन्द्र रह चुका था—अतः यद्यपि इस स्थान में भी तेरहवीं के अन्त तथा चौदहवीं के आरम्भ में वैष्णव भावना स्थापित हो चुकी थी—परन्तु जो पृष्ठभूमि पहले से चली आ रही थी और जैसी परिस्थितियाँ थीं—उनमे नामदेव ही आ सकते थे—नानक ही हो सकते थे । यहाँ निर्गुण धारा ही प्रवाहित हो सकती थी । दक्षिण पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में ग्वालियर तथा ओरछा केन्द्र बन रहे थे—आलोच्यकाल के अनन्तर परम्परागत राजपूती संरक्षण भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को दे रहे थे । इन क्षेत्रों में साहित्य, संस्कृति एवं अन्य ललित कलाएँ पर्याप्त फैली और फलीं ।

कन्नौज, प्रयाग और काशी की ब्राह्मण परम्परा काफी समय से चलती चली आ रही थी । जयचन्द की मृत्यु के बाद और भी चमकती ही गयी । इस क्षेत्र में राममन्त्र के प्रचार का सारा श्रेय राघवानन्द को दिया जाता है । इनकी सुप्रसिद्ध कृति 'सिद्धान्त-पंचमात्रा' में योग सम्प्रदाय और श्री वैष्णव सम्प्रदाय की साधनाओं का सम्मिश्रण मिलता है । नाभादास के साक्ष्य पर कहा जा

सकता है कि राघवानन्द वर्णाश्रम धर्म तथा भक्ति का सार्वभौम प्रचार करते हुए अन्ततः काशी में आ बसे हों। रामानन्द इन्हीं के शिष्य हैं जिनके सम्बन्ध में फर्कुहर की धारणा है कि इनका सम्बन्ध सम्भव है कि दक्षिण के किसी अद्वैतोपासक रामसम्प्रदाय से रहा हो—जो बाद में श्री सम्प्रदाय में विलीन हो गया हो। अगस्त्य-संहिता तथा अध्यात्म रामायण को दक्षिण से ले आने का श्रेय इन्हीं को है। अयोध्या भी योग और वैष्णव साधना का केन्द्र रहा।

बिहार बौद्धों की केन्द्रभूमि रह चुकी है, परन्तु इनके विहारों के उच्छेद होने तथा कार्णाट वंश का प्रभाव स्थापित होने के बाद राजकीय संरक्षण वैष्णव धर्म को मिला—यद्यपि जनता में तब भी शैव एवं शाक्त प्रभाव व्याप्त था। वर्तमान स्थिति भी इस सत्य की साक्षी है। जनकपुर अवश्य वैष्णव भावना का केन्द्र था—इसका प्रमाण अन्य स्रोतों से मिलता है।

हिन्दी प्रदेश की सीमा भूमि पर मध्य प्रान्त, बंगाल और उड़ीसा भी हैं। जहाँ तक मध्यप्रान्त का सम्बन्ध है—यद्यपि आलोच्य काल की आरम्भिक सीमा पर शैव मत प्रबल था—तथापि पुरातात्विक प्रमाणों से वैष्णव भावना के अस्तित्व के संकेत ऊपर दिये जा चुके हैं। वही वृत्ति तथा अयोध्या का संपर्क, दोनों ने ओरछा में वैष्णव भावना को आलोच्यकाल के अनन्तर काफी विकसित किया। बंगाल में नदिया तथा उड़ीसा में पुरी, दोनों ही स्थान वैष्णव धर्म के प्रचार स्थान रहे हैं। यह अवश्य है कि इन क्षेत्रों में सहजिया वैष्णव, धर्म-सम्प्रदाय, निरंजन पन्थ, बाउल मत, सभी बौद्ध अवशेष हैं।

हिन्दी प्रदेश की इस सीमा में गुप्तों द्वारा स्थापित और सात्वतों द्वारा प्रचालित, पुराणों द्वारा परिपोषित वैष्णव भावना काफी लम्बे अरसे से चलती चली आ रही थी। सल्तनती रक्त-लीला ने इस भावना को और भी लोक जीवन में जोड़ दिया—मौनस को दीप्त कर दिया फलतः रामानन्द तथा वल्लभाचार्य को इस उर्वरभूमि में वैष्णव संस्कृति को हराभरा कर देने का अच्छा अवसर मिला। नगरों में पनपती हुई ईरानी भोगवादी संस्कृति को इन सन्तों एवं आचार्यों ने परमात्मा के चरणों में देवालयों के अन्तर्गत समर्पित कर दिया। इस प्रकार वैष्णव धर्म की जो आग आलोच्यकाल की आरम्भिक शताब्दियों में धुँधुआ रही थी—तेरहवीं से स्पष्ट प्रज्वलित होने लगी और गुजरात से बंगाल तथा पंजाब से मध्यप्रदेश और उड़ीसा तक यह धर्म छा गया।

निर्गुण सम्प्रदाय भी इसी वैष्णव आन्दोलन का एक रूप है। वैष्णव आन्दोलन के इस मध्यकालीन स्तम्भों में रामानन्द का व्यक्तित्व बड़ा ही सक्षम और शक्त है। पूरी की पूरी चौदहवीं शती इनकी शती है। इस महायज्ञ में नाथ और भागवत साधना की सन्धिभूमि महाराष्ट्र में उत्पन्न ज्ञानदेव तथा नामदेव

ने भी आहुतियाँ डालीं। हिन्दू मुसलमानों की तलवारों से उठी मेघ-घटा और विद्युत के संहार का भयावह दृश्य नामदेव देख चुके थे और उन बुतों से चिपके हिन्दुओं और घृणा करने वाले मुसलमानों, दोनों को पुकार कर उन्होंने कहा था ऐसे पत्थर को केन्द्र बनाकर दोनों व्यर्थ लड़ते है जिसमें न आँसू है और न आग। इन परिस्थितियों में उन्होंने वह नादध्वनि की—जो शताब्दी के व्यवधान के बाद कबीर में सुनी जाती है। डॉ. रामरतन भटनागर ने ठीक कहा है—"इस भूमिका पर निर्गुणमतवाद जहाँ एक ओर सिद्ध, नाथ, निरंजन, महानुभाव, लिंगायत आदि वेद-ब्राह्मण-शास्त्र-विरोधी पूर्ववर्ती मतवादों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, वहाँ दूसरी ओर इस्लामी धर्म-साधना और धर्मचर्या तथा सूफी साधना के भी निकट आ जाता है। वास्तव में निर्गुणवाद दक्षिण के वैष्णव भक्तिवाद का वह परिस्थितिजन्य स्वरूप है जिसने उत्तर भारत की चौदहवी शताब्दी की हिन्दू चेतना में जन्म लिया था।" इस सन्दर्भ में जहाँ तक परिस्थिति-जन्य साम्य का सम्बन्ध है—मुझे कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु जहाँ तक अन्तरग साधना का सम्बन्ध है—वह आज भी स्पष्ट नहीं है। वारकरी और निर्गुण-धारा यदि दो विभिन्न साधन धाराएँ हैं—तो उनके अन्तरंग में कहीं भेद ढूँढ़ना होगा।

जहाँ एक ओर इस वैष्णव आन्दोलन का एक रूप यह था, वहींदूस री ओर निबन्ध ग्रन्थों से निर्दिष्ट सीमाओं में बहने वाले समाज के अनुरूप उसका शास्त्रधर रूप भी स्थापित हो रहा था। निर्गुणधारा संस्कार-हीन लोगों की व्यक्तिगत साधना पर बल देती थी, सगुण धारा पुरातन संस्कार एवं परम्परा के प्रति समर्पित और सामाजिक भी थी—वैयक्तिक आत्मलाभ की बात तो थी ही वहाँ। दूसरी धारा राम एवं कृष्ण को आराध्य मानकर प्रवाहित हुई। इसीलिए इस युग के समस्त सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि में दो ही ग्रन्थ माने जाते हैं—श्रीभाष्य तथा श्रीमद्भागवत। एक से वैधी और दूसरी से रागानुगा चल निकली। यह बात यहाँ भी ध्यान में रखनी है कि इन सबकी तह में तांत्रिक धारणा गुप्त रूप से प्रवाहित थी। स्वयं रामायत सम्प्रदाय का अध्यात्म रामायण अद्वयवादी दृष्टिकोण रखना है और सीता को राम की अभिन्न शक्ति मानता है। भागवत की राधा तो ह्लादिनी शक्ति के रूप में अपना अन्तरंग स्वरूप स्पष्ट करती ही गयीं। तान्त्रिक धारणा ज्यों-ज्यों उदग्र होती गयी वैधी एवं राममार्गी, दोनों की वैष्णव साधनाएँ रसमार्गी-रसिक सम्प्रदाय-वादी होती गयीं।

कृष्णायत्त धारा

ऊपर वैष्णव धर्म के उद्भव और विकास की चर्चा करते समय 'विष्णु'

'कृष्ण' की एकरूपता किस प्रकार हुई और कैसे-कैसे विभिन्न कथाएँ कृष्ण से जुटती गयी-- इसका उल्लेख किया जा चुका है। सम्प्रति, केवल कृष्णायत्त धारा के सन्दर्भ में इतना ही कहना है कि कृष्ण नाम और उनके शौर्य तथा चातुर्य पूर्ण नीति की चर्चा काफी पुरानी है। सातवीं शती ई. पू. पाणिनि ने कृष्ण तथा अर्जुन दोनों का ही एक धार्मिक नेता के रूप में उल्लेख किया है। मेगस्थनीज (३ ई. पू.) भी मानता है कि मथुरा में कृष्ण पूजनीय थे। इसी प्रकार महानारायण उपनिषद् (२ ई. पू.) पतञ्जलि (१५० ई. पू.) तथा बेसनगर वाले शिलालेख (ई. पू. तृ. सा. द्वि.) का भी साक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

विद्वानों में महाभारत के कृष्ण और भागवत के कृष्ण को भी लेकर मत भेद है—परन्तु अब अधिकांश विद्वान् इस मत की स्थापना में संलग्न हैं कि दोनों एक ही हैं। यहाँ इतना अवश्य है कि उनके जो ये दो रूप हैं—कंसारि और रासबिहारी उनमें से परवर्ती रूप की चर्चा प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती, जबकि प्रथम रूप का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। समय के प्रवाह और मध्यकालीन तान्त्रिक आन्दोलन का सहारा पाकर परवर्ती रूप ही उदग्र हो गया, पूर्ववर्ती रूप दब गया। कृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् तथा महाभारत में मिलता है। परन्तु उभयत्र कृष्ण के रसिक रूप की चर्चा अनुपलब्ध है। अन्य पुरातात्विक प्रमाणों से भी यह सिद्ध किया गया है कि कृष्ण का वीर रूप प्राचीन तथा रसिक रूप अर्वाचीन है। इधर की खोजों से तो अब यह भी सिद्ध होने लगा है कि आलवार भक्तों में से किसी की साधना गोपीभाव की थी। इधर सागर विश्वविद्यालय से डॉ. जयरमन ने डी. लिट. के निमित एक शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किया है जिसमें रास भावना तक की बात बतायी गयी है। जो भी हो, फिलहाल इतना स्थिर है कि कृष्ण का वीर रूप पुराना है और शृंगारी रूप नवीन और मध्यकाल में इसी परवर्ती रूप को अधिक महत्व मिला।

कृष्ण के साथ राधा की कहानी भी विवादास्पद है। पुराणों में हरिवंश भागवत तथा विष्णु, तीनों ही में राधा का उल्लेख नहीं है। वैसे भागवत का एक श्लोक इस विषय में उद्धृत किया जाता है—

> अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
> यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥

यहाँ 'आराधितः' में राधा की उपस्थिति बतायी गयी है। स्पष्ट ही यह भक्तों और उपासकों की रहस्यवादी सूझ-बूझ है। यों स्पष्ट रूप में राधा शब्द का उल्लेख विक्रम संवत् के आरम्भ में विद्यमान शातवाहन हाल ने अपनी

'गाहासत्तसई' में किया है—जिसको मानने से राधा का नामोल्लेख दो हजार वर्ष पुराना अवश्य मान लिया जायगा। पाँचवीं शती ई. के पंचतन्त्र में भी राधा नाम का उल्लेख मिलता है। यहाँ का प्रसंग प्रेमगर्भ है। इस प्रकार पाँचवीं शती तक राधा का उल्लेख प्राकृत मे होता हुआ संस्कृत में आने लगा। प्राकृत पैंगलम् के कतिपय अपभ्रंश दोहों में भी 'राधा' की चर्चा मिलती है। फिर तो वेणीसंहार, ध्वन्यालोक, गीतगोविन्द कृष्ण कर्णामृत के साथ-साथ अन्यान्य पुराणो मे भी राधा का उल्लेख मिलने लगता है। फिर तो भक्तों और आचार्यों ने मथकर जहाँ नहीं भी थी—वहाँ भी उनकी गुप्त स्थिति स्वीकार की। भागवत के 'आराधित:' में राधा को ढूँढ़ निकालने की कहानी ऐसी ही है। डॉ. शशि भूषण दास गुप्त का विचार है कि राधा तत्व के विकास में शक्तिवादी भावना निहित है। उनके अनुसार यह स्थिति बंगाल में पहले आयी परन्तु प्रभुदयाल मीतल की धारणा इससे भिन्न है। उनका कहना है कि बंगाल में राधा तत्व के विकसित होने से पहले ही दक्षिण भारत में लक्ष्मी तत्व से राधा तत्व का विकास हो चुका था, जो वहाँ के आलवार भक्तों की रचनाओं में लक्षित होता है। वही राधा तत्व पहले निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय मे गृहीत हुआ, और फिर कृष्णोपासना के अन्य सम्प्रदायों में।

आलोच्यकालीन वैष्णवाचार्य और उनके सम्प्रदाय तथा दर्शन

यह तो सर्वविदित है कि शंकराचार्य के अद्वैत के विरोध में द्वैतवादी वैष्णवों के चार सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। दार्शनिक दृष्टि से ये हैं—विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा द्वैतवाद। प्रथम के प्रवर्तक रामानुज, द्वितीय के विष्णु स्वामी, तृतीय के निम्बार्काचार्य और चतुर्थ के मध्वाचार्य हैं। चारों ने अपने-अपने सम्प्रदाय प्रवर्तक मूल तत्व के रूप में क्रमश: श्री रुद्र, सनकादि चतुष्टय तथा चतुर्मुख को माना है। इसीलिए इन्हें श्री सम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय तथा ब्रह्मसम्प्रदाय भी कहा जाता है। चारों ने इस प्रकार के विवाद खड़े किये हैं कि यह तय कर पाना कठिन है कि कौन पूर्ववर्ती और कौन परवर्ती है? यों पद्मपुराण, प्रमेय-रत्नावली आदि मे कुछ क्रमों का संकेत है। अनुसंधायकों की धारणा है कि सामान्यत: इनमें से आरम्भिक रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय और अन्तिम मध्वाचार्य का ब्रह्म सम्प्रदाय है। मतभेद अब दो अवशिष्ट के सम्बन्ध मे अधिक हैं। वैसे इस क्रम में यहाँ सर्वप्रथम रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवादी मत का ही उल्लेख किया जाना चाहिए तथापि कृष्णायत धारा का प्रसंग होने से सर्वप्रथम शुद्धाद्वैतवाद का उपस्थापन किया जा रहा है। इसी धारा ने हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित भी किया है।

शुद्धाद्वैतवाद

'वाद' तत्व बोध की इच्छा रखने वालों की कथा[1] है—परस्पर विचार-विनिमय है। रहा शुद्धाद्वैत, सो उसकी कर्मधारय तथा तत्पुरुष दोनो प्रकार के समास द्वारा अर्थयोजना की जाती है। कर्मधारय समास के अनुसार 'शुद्ध' विशेषण है—'अद्वैत' का। इस विशेषण से यह बताया जाता है कि जहाँ शंकराचार्य 'अद्वैत' को 'मायाशबल' मानते है—वहाँ इस मत में उसे माया से सर्वथा अलिप्त माना गया है—'शुद्ध' माना गया है। इस मत के अनुसार वह माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है। तत्पुरुष समास के अनुसार यहाँ माना जाता है कि कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म में अद्वैत है—दोनों एक है। अद्वैतवाद में ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण तथा सर्वधर्मशून्य फलतः केवल है—वहाँ जिन इतर धर्मो का प्रतिभास होता है—वह मायावश है—जबकि इस मत में सभी विरुद्ध धर्म स्वाभाविक एवं नित्य हैं—वह मायावश नही है। अहिकुण्डल की भाँति वह सभी विरोधी धर्मो का आश्रय है। इस मत मे ब्रह्म तीन रूपों में व्यक्त होता है—आधिदैविक या स्वरूप परब्रह्म, आध्यात्मिक या कारण अक्षर ब्रह्म, आधिभौतिक या कार्य जगत्। मतलब यह कि कार्य जगत् ब्रह्म ही है—कारण भी ब्रह्म है। दोनों में कोई अन्तर नही है—यही 'शुद्धयोः कार्यकारणरूपयोरद्वैतम्' है—शुद्ध (कार्य एव कारण ब्रह्म) का अद्वैत। आविर्भाव तथा तिरोभाव नाम की दो अचिन्त्य शक्तियाँ हैं—ब्रह्म में। इसी निजी शक्ति की अनवगाह्य महिमा से वह जगत् रूप मे आत्म प्रसार करता है और पुनः मूल रूप मे स्थित हो जाता है। आविर्भाव रूप में जो जगत् है तिरोभाव रूप में वही ब्रह्म है। अथवा चित् एवं आनन्द अंश का जहाँ तिरोभाव है—वही जगत् है और जहाँ सबका आविर्भाव है—वही ब्रह्म है। ब्रह्म चिदानन्दमय है। वहाँ सत्, चिद् एवं आनन्द अपनी समग्रता मे प्रकाशित है। सत् ही प्रकाश्य होकर चित् है और चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है। इसी की दूसरी संज्ञा 'पुरुषोत्तम' है। यह क्षर एव अक्षर, दोनो स परे है। गीताकार ने जिसे 'पुरुषोत्तम' कहा है, भागवतकार ने उसे ही 'भगवान्' बताया है। श्रीकृष्ण ही इस मत मे परब्रह्म है और उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। वही जब अपनी अनन्त शक्तियों के साथ आंतर-रमण करता है तब 'आत्माराम' कहा जाता है, वही तब 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है जब बाह्य रमण की इच्छा से वह अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करता है।

यही श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ

---

१ तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः

'व्यापी बैकुण्ठ' में नित्य लीला करते हैं। 'गोलोक' इसी 'व्यापी बैकुण्ठ' का एक देश है। यह स्थान विष्णु के बैकुण्ठ से ऊपर अवस्थित है। भगवान् मे अनन्त शक्तियाँ हैं जिनमें से श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ति आदि बारह शक्तियाँ मुख्य है। बाह्य रमण की इच्छा से जब भगवान् का परिकर-प्राकट्य भूलोक पर होना है—तब व्यापी बैकुण्ठ ही गोकुल बन जाता है और वे ही बारह शक्तियाँ श्री स्वामिनी चन्द्रावली, राधा, यमुना-आदि आधिदैविक रूपों में प्रकट होती हैं। श्रुतियाँ ही आस्वाद के निमित गोपियाँ बन जाती हैं।

ऊपर ब्रह्म का ही आध्यात्मिक रूप 'अक्षर ब्रह्म' कहा गया है। अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का किंचित् तिरोधान रहता है जबकि परब्रह्म परिपूर्ण आनन्द मूर्ति है। अक्षर ब्रह्म एवं परब्रह्म में एक दूसरा अन्तर यह भी है कि जहाँ पहला विशुद्ध ज्ञान-गम्य है वहाँ दूसरा केवल तथा अनन्य भक्तिलभ्य है।

आत्माराम ही जब अपने स्वातन्त्र्यवश अनेक होकर बाह्य रमण करना चाहता है तब उसे जिस प्रथम स्तर में परिणत होना पड़ता है मै समझता हूँ वही स्तर 'अक्षर ब्रह्म' नाम धारण करता है। बात यह है कि प्रत्येक सर्जक अपने भीतर अनन्त विध सृष्टि की सामर्थ्य रखता है परन्तु जिस तरह की सृष्टि करना चाहता है—तदनुरूप सामग्री को उद्रिक्त कर लेता है और शेष को दबा देता है। इसी वैषम्यावस्थापन्न स्तर को 'अक्षर ब्रह्म' कहा जाता होगा। इसी वैषम्य से परब्रह्म की अपेक्षा यहाँ आनन्दांश की थोड़ी कमी आ जाती होगी। इसी कारणात्मक अक्षर ब्रह्म से सच्चिदानन्दात्मक अणु अंश ही निकलते रहते है जैसे बृहद् अग्निराशि से विस्फुलिंग निकलते हैं—इस निःसरण को 'व्युच्चरण' कहते है। होता है ब्रह्म ही जीव—पर उस रूप में वहाँ आनन्दशक्ति तिरोहित रहती है, चित्प्राधान्य रहता है। उसे निरुपाधिक ब्रह्माणु भी कहा जाता है। इस अणु-भाव के साथ-साथ अक्षर ब्रह्म का विशुद्ध सत्व भी खण्ड-खण्ड होकर जीव के साथ जुट जाता है। सृष्टि समकाल मे जीव का आनन्दांश ही तिरोहित होता है—भगवत्ता बाद में विलुप्त होती है। एक बात और, जीव जब भगवदाविष्ट होता है तब न केवल आनन्दांश की ही अभिव्यक्ति होती है—प्रत्युत भगवत्ता भी स्फुरित होती है। परन्तु यह व्यापकत्वादिमयी भगवत्ता जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं है—बल्कि संपर्कज है। जैसे तप्तायः पिण्ड में अग्नि के आवेश वश अग्नि की दाहकता अयः पिण्ड मे जान पड़ती है ठीक उसी प्रकार भगवान् के धर्म भगवत्ताविष्ट जीव में भी प्रतीत होते है। जीवों का अंशरूप में व्युच्चरण होता है—का अर्थ यह नहीं है कि कोई अंश किसी अंश से नया उत्पन्न होता है अतः विनाशशील भी होता होगा—अर्थात् जीव अनित्य है, नहीं; यहाँ तो अंशी, अंश, दोनों सम्बन्ध, एक से दूसरे का निर्गम—सब कुछ ब्रह्ममय ही

है—कुछ भी अनित्य नहीं है—कुछ भी विकृत नहीं है। अक्षर ब्रह्म में केवल यदि किसी शक्ति का प्राकट्य है तो वह तिरोभाव। शेष समस्त धर्मों का वहाँ अप्राकट्य ही है। अतः इस ब्रह्म को निर्धर्म भी कहा जाता है।

ये जीव भी अवस्थाभेद से, भगवदिच्छावशात् तीन प्रकार के हैं—शुद्ध ससारी और मुक्त। जीव की सृष्टि-समकाल में ब्रह्मनिर्गत वह अवस्था 'शुद्ध' है—जिसमे अविद्या का सम्पर्क नहीं है—आनन्दांश का तिरोधान हो चुका है। निष्कर्ष यह कि शुद्ध चिद्भाव में चार विशेषताएँ होती है—

(१) ब्रह्मनिर्गत होने से आनन्दांश का तिरोभाव।
(२) चिद्भाव मात्र की स्थिति।
(३) अविद्या से असम्बन्ध।
(४) ऐश्वर्यादि षड्गुण का अस्तित्व।

जीव की दूसरी स्थिति है—संसारी। शुद्ध जीव ही तब संसारी कहा जाता है जब उसका अविद्या से सम्बन्ध होता है। अविद्या का सम्पर्क होने पर ऐश्वर्यादि षाड्गुण्य का तिरोधान हो जाता है। संसारी जीव भी दो प्रकार के होते हैं—दैव और आसुर। दैव जीव वे हैं जो सृष्टि काल मे ही 'स्व परिगृहीत' हो जाते है और 'आसुर' जीव वे हैं जो उसी काल में 'मायाशक्ति परिगृहीत' हो जाते है। अर्थात् जिन जीवो को भगवान् अपना कर लेते हैं, सूक्ष्म सद्वासना विशिष्ट मुक्ति का अधिकार देते है—वे ही दैव जीव है। जिन जीवों में भगवद्रमण का उच्च-भाव नहीं हैं, असद्वासना युक्त नीच भाव हैं—वे माया गर्भ में चले जाते है—वे स्त्री-योनि पतित पुरुष-वीर्य की भाँति लौटकर पुरुष में नहीं आ सकते। परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है कि ये आसुरभावापन्न, नाना योनि परिभ्रान्त, निन्दनीय कर्मरत जीव कभी शुद्ध हो ही नही सकते—यह सब तो भगवदिच्छा वश है। उनकी इच्छा मे सब कुछ सम्भव है। कुछ जीव ऐसे भी है जो मुक्त हैं और वे भी दो प्रकार के हैं—जीवन्मुक्त तथा परममुक्त। जब तक संसारी जीव अविद्या से रहित या शून्य नहीं होता, तब तक मुक्ति की कोई बात ही नहीं उठती। जीवन्मुक्त वे सनक आदि हैं जो व्यापक बैकुण्ठ अथवा परम-व्योम के अतिरिक्त अन्यान्य भगवल्लोकों में निवास करते है। इसके बाद भगवान् की कृपा से जो परमव्योम में प्रवेश कर परामुक्ति की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं—वे परममुक्त हैं। देव जीवों में भी कोई-कोई स्वतन्त्र भक्ति द्वारा नित्य लीला में प्रवेश करते हैं।

साधना की दृष्टि से दैव जीव भी दो प्रकार के होते है—मर्यादामार्गी तथा पुष्टिमार्गी। पुष्टिमार्गी भी चार प्रकार के हैं—प्रवाह, मर्यादा, पुष्टिपुष्ट, तथा पुष्ट। प्रवाह जीव अहंता-ममता-गर्भ संसार मे रागयुक्त होकर प्रवृत्त रहता है।

इसी प्रवाह में वह भगवदुपयोगी क्रिया में प्रवृत रहता है। मर्यादा जीव वह होता है जो विधि-निषेध-नियन्त्रित होकर स्वाभाविक राग पर नियन्त्रण रखता है। इन्हें भजनोपयोगी ज्ञान का जनक एक विशेष अनुग्रह प्राप्त रहता है। ये लोग भगवान्, उनके परिकर, लीला तथा प्रपंच, सबका ज्ञान रखते हैं। चौथे प्रकार के जीव कर्तव्य बुद्धिवश नहीं, वासना या सद्वासनावश ही प्रेममग्न रहते है। माना तो यह भी जाता है कि प्रवाह जीव भगवान् के मन से, मर्यादा जीव उनके वाक्य से, एवं पुष्टिमार्गीय जीव उनके काय से उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रवाह सृष्टि का मूल मन है, मर्यादा सृष्टि का वाणी या वेद तथा पुष्टि सृष्टि का मूल चिदानन्दमय देह है।

चेतन स्तर पर परब्रह्म, अक्षर ब्रह्म, तथा जीव के अतिरिक्त एक रूप और भी इस मत में चर्चित है—और वह है—अन्तर्यामी। पुरुषोत्तम का यह रूप सूर्यमण्डल आदि में है। पुरुष तीन प्रकार के हैं— महत् स्रष्टा, ब्रह्माण्ड संस्थित तथा सर्वभूतस्थ। इस अन्तर्यामी को पुरुष या नारायण भी कहा जाता है। अक्षर-निर्गत अन्तर्यामी को पुरुष या नारायण भी कहा जाता है। अक्षर-निर्गत अन्तर्यामी इसी मुख्य अन्तर्यामी के अंश हैं—वे जड़ एवं जीव मात्र में अनुस्यूत रहकर अन्तर्यमन करते हैं—इसीलिए अन्तर्यामी कहे जाते हैं।

विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र भी पुरुषोत्तम के ही विशिष्ट रूप हैं जैसे प्राकृत सत्व, रज एवं तम गुण हैं, उसी प्रकार अप्राकृत सत्व, रज एवं तम हैं। विशुद्ध सत्वात्मक विग्रह में जगत् की स्थिति का कार्य करने वाला विष्णु, रजोमय विग्रह मे सृष्टि करने वाला ब्रह्मा तथा तमोमय विग्रह में संहार करने वाला रुद्र है।

अवरोहण क्रम में चेतन के विभिन्न स्तरों की बात हो जाने पर सम्प्रति प्रपंच की बात आती है। इस धारा में प्रपंच तथा संसार—दोनों दो भिन्न चीजें हैं। प्रपंच मिथ्या नहीं है, संसार मिथ्या है। शंकर अद्वैत से भिन्न रूप की माया नाम की एक अचिन्त्य शक्ति भगवान् में मानी जाती है जिसके बल से वे भिन्न आकार ग्रहण कर सकते हैं। प्रपंच उन्ही का स्वरूप है—अन्तर इतना ही है कि यहाँ आनन्दांश तथा चिदंश तिरोहित है। इसीलिए यहाँ 'अविकृत परिणामवाद' माना जाता है। पुरुषोत्तम का परिणाम ही प्रपंच है—पर दूध-दही की भाँति कोई स्वरूपगत विकार नहीं है। है वह पुरुषोतम ब्रह्म ही—केवल माया के कारण लोगों को जगत् या प्रपंच रूप से जान भर पड़ता है। माया की भाँति अविद्या भी अन्ततः उन्हीं की शक्ति है। इसी अविद्या के कारण जीव द्वारा कल्पित अहंता-ममता-रूप पदार्थ संसार है। इसी शक्ति के वशीभूत होने के कारण जीव संसार दशा का भोग करता है। 'मैं' और 'मेरा' की बुद्धि अविद्याजन्य है—जो अवास्तविक और भ्रान्त है। अहंता, ममता की निवृत्ति विद्यावश होती है—

तब लगता है कि यह सब भगवान् का ही रूप है—इस रूप की प्रतीति ही प्रपच या जगत् की प्रतीति है। बाह्य रमण के लिए पुरुषोतम ने ही तो प्रपंच रूप मे अपने को व्यक्त किया है—यह उसी का तो स्वरूप है। वैसे ससार की निवृत्ति हो जाती है—परन्तु अनित्य वह भी नही है। निवृत्ति तो प्रपच की भी होती है, परन्तु संसार की भाँति तज्जनक अविद्या की निवृत्ति में नहीं, प्रत्युत जब स्वय भगवान् आत्मरमण के लिए अन्तर्मुखी होता है। यद्यपि इस अवस्था में जीव मात्र विश्रान्ति सुख का अनुभव करता है—परन्तु तो भी यह उनकी मुक्ति की स्थिति नही है। मुक्ति में संसार निवृत्ति के साथ-साथ अध्यास निवृत्ति भी रहती है—परन्तु यहाँ अध्यास दबा भर रहता है, निवृत्त नही होता। ठीक ही है। अविद्या की निवृत्ति विद्या से अवश्य होती है, परन्तु दोनो का ही मूल उपादान जब तक माया बनी है—तब तक अविद्या की आत्यंतिक निवृत्ति कहा हुई? अविद्या-निवृत्ति एक प्रकार की बन्ध-निवृत्ति है—विशेष प्रकार का मोक्ष है। यह विश्राम दशा प्रलय दशा है। सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम सृष्टि की इच्छा का उदय होता है—इस माया द्वारा वे स्वय को परिच्छिन्न करते है। इस प्रकार सृष्ट्यात्मक अवरोहण की प्रक्रिया का इस धारा में बहुत ही गम्भीर विवेचन है।

सम्प्रति, आरोहण की प्रक्रिया पर विचार करना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही कहा जा चुका है कि बन्धन और मुक्ति-स्वरूप से व्युच्चरण तथा विलयन—सब कुछ भगवदिच्छा पर ही निर्भर है। अत. "यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः" का सिद्धान्त इन्हें विशेष रूप से मान्य है। आचार्य के विचार पक्ष पर विवेचन हो चुका—जहाँ तक उनके 'आचार' का सम्बन्ध है—जिसके द्वारा आरोहण या 'परप्राप्ति' होती है—भगवत् साक्षात्कार होता है, रसोपलब्धि होती है, सायुज्य मिलता है—व्यापी बैकुण्ठ में अवस्थिति होती है—यह है—'पुष्टि मार्ग'। भागवत मे पुष्टि या पोषण का अर्थ है—अनुग्रह। कहा गया है—"पोषण तदनुग्रहः"। भगवान् की उपलब्धि केवल इसी पुष्टिमार्ग या भक्ति से होती है। कर्म से आधि-भौतिक, ज्ञान से आध्यात्मिक तथा भक्ति से आधिदैविक रूप की उपलब्धि होती है। मर्यादा मार्ग से पुष्टिमार्ग सर्वथा विलक्षण है। मर्यादा मार्ग वैदिक या वैध मार्ग है जो अक्षर ब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर से प्रादुर्भूत है। वैसे तो भक्तिमात्र ही भगवदनुग्रह के बिना नही होती, परन्तु सामान्य अनुग्रह से जिस भक्ति का उदय होता है वह मर्यादा-भक्ति और विशिष्ट कृपा से जिसका उदय हो, वह पुष्टिभक्ति है। यह पुष्टिभक्ति भी चार प्रकार की है—प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टि-पुष्टि तथा शुद्ध पुष्टि। अहंता-ममतामय संसार का ही नाम 'प्रवाह' है—इस प्रवाह में पतित जीव की

रुचि कर्म में होती है। इस वृत्ति की भगवदुपयोगी क्रिया प्रवृत्ति ही प्रवाह पुष्टि भक्ति है। मर्यादा या विधि का ध्यान वैषयिक राग को रोकना है। इस प्रकार भक्त विषय निवृत्त होकर भगवत्कथा श्रवण में प्रवृत्त रहता है। यही रूप मर्यादा पुष्टि का है। पुष्टि-पुष्टि भक्ति सोपाधिक भक्ति है। इसमें चित्तशुद्धि के बाद का स्तर है—सर्वज्ञता की उपलब्धि। इस भक्ति से सम्वलित जीव में भगवान् का ऐसा अनुग्रह होता है जिससे भजनोपयोगी ज्ञान पैदा होता है। यही वह स्तर है—ज्ञानमार्ग का फल—अक्षरब्रह्म की उपलब्धि। इस भक्ति से जीवन्मुक्ति मिल सकती है—परन्तु परममुक्ति की जिस भक्ति से उपलब्धि होती है—वह इस स्तर के बाद की बात है। शुद्ध पुष्टि साधन भी है और साध्य भी। यहाँ किसी सहकारी या अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नही है। कहा ही है—

"साधनं बिना स्वस्वरूपबलेनैव कार्यकरणं पुष्टिः"।

अन्यत्र इस आरोहण क्रम के जिन तीन सोपानों का संकेत किया गया है—उनकी संगति भक्ति के उक्त रूपों या सोपानों से भी लगती है। सोपान हैं—

१. साधना से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति।

२. भगवदनुग्रह रूप पुष्टि की प्राप्ति।

३. लीलामय रस स्वरूप भगवत् साक्षात्कार।

स्पष्ट ही इन सोपानों के द्वारा क्रममुक्ति की बात कही जा रही है। श्रवणादि के द्वारा विद्या का उदय, अविद्या का विनाश फलतः चित्तशुद्ध होती है। इसी स्तर पर अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार जब चित्त प्राकृत धर्मों से रहित और नितान्त शुद्ध हो जाता है—तब उसमें यह स्वरूप योग्यता आ जाती है कि उसमे भगवत्स्वरूप का आविर्भाव हो। कहा गया है—"अक्षर ब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोतमप्राप्तौ स्वरूप योग्यता सम्पाद्यते"। क्रम इस प्रकार होगा—श्रवणादिसाधन—अक्षर-ब्रह्मज्ञान—अविद्या निवृत्ति—प्राकृत धर्मराहित्य—चित्त शुद्धि—पुरुषोतम प्राप्ति की स्वरूपयोग्यता। पर इस स्वरूपयोग्यता से ही सब कुछ नहीं हो जाता, जब तक की पुरुषोतम द्वारा वरण या विशिष्ट अनुग्रह नहीं हो जाता। निष्कर्ष यह कि यह सब साधन भक्ति है—इसके फलस्वरूप जब स्वरूप योग्यता और सह-कारी योग्यता (विशिष्ट अनुग्रह)—दोनों ही उदित हो जाती हैं—तब वास्तविक भावभक्ति उदित होती है—इस 'भाव' के धारण करने योग्य अप्राकृत सत्व का एक भावमय देह भी उत्पन्न होता है। यहीं से भक्ति साधना का प्राकृत स्तर समाप्त हो जाता है और अप्राकृत स्तर का आरम्भ होना है। यह भाव स्वरूप-शक्ति या ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति विशेष है। भावभक्ति के परिपक्व होने पर प्रेमभक्ति का उदय होता है। प्रेम यदि सूर्य है तो भाव उसी की एक किरण है।

फिर यह प्रेम नित्य सिद्ध रस रूप में प्रतिष्ठित होता है। यहाँ प्रेम, प्रेम का आश्रय (भक्त) तथा विषय (भगवान्) तीनों मिलित होकर एक अचिन्त्य रस स्वरूप का आत्मप्रकाश करते हैं।

वल्लभ मत में माना जाता है कि आदि सृष्टि के समय जीवत्व सम्पादन काल में ही भगवान् बीजरूपिणी भक्ति या भाव की स्थापना कर देता है। जहाँ यह बीज भाव निहित रहता है वहीं भगवान् का अनुग्रह होता है। भाव की परिपक्वावस्था ही प्रेम है और यही मानसी सेवा है। इससे पूर्व वित्तजा तथा तनूजा सेवा का भी विधान है। प्रेम की प्रथम अवस्था आसक्ति तथा परिपक्वावस्था वासना है। इस स्थिति में सर्वत्र भगवत्स्फूर्ति होने लगती है। यही सर्वात्मभाव है। इसी के पश्चात् चरम लक्ष्य नित्य-लीला में प्रवेश होता है।

सूर-साहित्य का दार्शनिक सन्दर्भ

सर्जक और भक्त अथवा सर्जक भक्त मुख्यतः साधक और अनुभवी प्राणी होते हैं, परन्तु जिस साधना के कार्यान्वयन से अनुभव संचित होता है उसकी कोई न कोई वैचारिक या दार्शनिक भूमिका अवश्य होती है। अन्ततः 'दर्शन' है बुद्धिविलास ही, इसीलिए ब्रह्मसूत्रकार ने उसकी आत्यन्तिक प्रतिष्ठा स्वीकार नहीं की है—'तर्काप्रतिष्ठानात्'। बात यह है कि बुद्धि सर्वदा पक्षविशेष का आग्रह करती है और चरमतत्व के विषय में इदमित्थं कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह बुद्धि से परे है। अतः जिस साधक का लक्ष्य स्वरूपोपलब्धि होनी है—वह बुद्धिविलास की इयत्ता जानकर उसके चक्कर में ज्यादा नहीं पड़ता। वह अनुभव को महत्व देता है और तदर्थ साधना करता है। पर इसका यह भी मतलब नहीं कि परमार्थोपलब्धि में उसका कोई महत्व या उपादेयता नहीं। साधना और व्यवहार काव्य में जब तक साधक स्वरूपस्थ नहीं हो जाता तब तक विचार और दर्शन सहायक होते हैं। बाद में भले उसे छोड़ दिया जाय या उसे अनावश्यक समझकर छोड़ दिया—'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'—पर साधना और व्यवहार के लिए मननपूर्वक मन को कहीं स्थिर करना पड़ता है। इसलिए साधक आचार्य के पास जाता है जो उसे आचार और विचार, दोनों तरह की आँखें देकर सत्पथ पर आरूढ़ करता है। इसलिए तत्वतः डा० हरवंश लाल शर्मा के इस कथन से सहमत होकर भी "सूरसागर में दार्शनिक सिद्धान्तों को खोज करना असंगत-सा ही प्रतीत होता है"—'सूर साहित्य' के दार्शनिक सन्दर्भ की ओर मुड़ना पड़ता है—स्वयम् डा. शर्मा ने सूर की दार्शनिकता की सूरसागर में खोज की है।

सूर साहित्य के मूल में जो 'दृष्टि' निहित है वह उनके दीक्षा गुरु वल्लभा

चार्य की दी हुई है। उन्होंने ही सूर को सारा भेद बताया था—उन्हीं के निर्देश में उन्होंने आत्मोपलब्धि की थी :

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ
सब्दहि सब्द भायौ उजियारौ सद्गुरु भेद लखायौ।
जागि लख्यौ, ज्यों की त्यों ही है ना कहु गयौ न आयौ।
सूरदास समुझै को यह गति, मन ही मन मुसकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा ज्यों गूँगे गुर खायौ॥

सद्गुरु के शब्द ने चरम शब्द का साक्षात्कार करा दिया—अविद्यांधकार निवृत्त हो गया। अविद्यावश चलने वाले अहंता ममतामय स्वप्नकल्प संसार की निवृत्ति हो गयी—कहीं आने-जाने की आवश्यकता हीं नहीं पड़ी। ज्ञानात्मक जागरण होने पर लगा कि सब ज्यों का त्यों है। परन्तु क्या यह दशा बुद्धि की पहुँच के भीतर है? बस अनुभव करो और मगन होते रहो। इस सुखात्मक आत्मोपलब्धि की महिमा अनिर्वचनीय है, वाणी की क्षमता के परे है। गूँगा भला गुड का आस्वाद क्या वर्णन कर सकता है? इस अनुभूति के विषय मे अनुभविता गूँगा ही है। जहाँ तक कह सकता है, वहीं तक कह पाता है—अत अनुभूति केवल संकेतित होकर रह जाती है। केवल शब्द को ही पकड़कर जो रह जायगा, वह धोखे मे रहेगा। कबीर ने भी कहा था—

संतो धोखा कासूं कहिए
जैसे कहत तस होत नही जस है तैसा होइ

गोस्वामीजी ने भी 'अपुनपो पहचानने' वाले को वादविवाद से दूर रहने को ही कहा। पक्ष-प्रतिपक्ष को भ्रम बताकर उसे परिहरणीय बताया है। इन सब बातो के बावजूद उनकी रचनाओं में निहित 'दृष्टि' या 'दर्शन' का संकेत अनायास समुच्छलित सम्प्रदायमान्य शब्दावलियो से मिल ही जाता है। निस्सन्देह इनके साहित्य का दार्शनिक सन्दर्भ शुद्धाद्वैतपरक है। आचार्य वल्लभ से ही उन्हें 'तत्व' श्रवण का अवसर मिला था और 'लीलाभेद' समझने का सुयोग प्राप्त हुआ था। 'सूर सागर' तभी तो सम्भव हुआ—

कर्मज्ञान पुनि योग उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरुतत्व सुनायौ लीलाभेद बतायौ।
ता दिन तें हरिलीला गाई एक लक्षपद बन्ध

दार्शनिक शब्दावलियों का यत्र-तत्र प्रयोग, दार्शनिक विचारों का संकेत, तदनुरूप साधन पद्धति का उल्लेख ये सभी सिद्ध करते हैं कि भक्तवर सूर अवश्य वल्लभदर्शन के प्रति निष्ठावान थे। 'शुद्धाद्वैतवाद' सम्मत 'प[illegible]

सामासिक है। इसमे कर्मधारय तथा तत्पुरुष समास की सम्भावनाओं का अस्तित्व है। कहा गया है—

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेय. समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयो : प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधा ॥

शंकराचार्य का ब्रह्म इनकी दृष्टि मे मायाशबल है—अतः शुद्ध नही है—जबकि वल्लभ का ब्रह्म—"माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै."—माया सम्बन्ध रहित है—अतएव शुद्ध है। इस प्रकार शुद्ध अद्वैत का पक्ष धर होने मे यह दर्शन 'शुद्धाद्वैत' वाद है। इस मत मे कारण ब्रह्म और जगत् रूप कार्यब्रह्म मे कोई अन्तर नही है। शंकर मत मे कार्यजगत् माया प्रसूत है परन्तु इस मत मे स्वयम् ब्रह्म ही जगत रूप मे प्रसृत है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ कारण ब्रह्म मे चिदंश तथा आनंदांश प्रकट रहता है वहाँ कार्यब्रह्म मे तिरोभावशक्ति द्वारा अव्यक्त रहता है। शांकर मत में निर्धर्मक, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण प्रतीत होता है परन्तु यहाँ उस परतत्व को 'अहिकुण्डलवत्' विरुद्ध धर्माश्रय माना जाता है। सांप में ऋजुता भी है—कुण्डलिता भी। यह उसका स्वातन्त्र्य है कि वह जब जैसा चाहे हो जाय। कहा गया है—

कार्यकारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्'

शांकर ब्रह्म अकर्ता, अभोक्ता तथा अनियन्ता है, परन्तु वल्लभ के ब्रह्मकर्ता, भोक्ता और नियंता सब कुछ हैं। हाँ, परन्तु यह सब अवश्य है कि यह लौकिक नहीं, लोकोत्तर है। शांकर ब्रह्म निर्धर्मक है, यह सधर्मक है। यहाँ धर्म तथा धर्मी मे, शक्ति तथा शक्तिमान् में अभेद है, अतः द्वैत होने पर भी अद्वैत है।[1] शांकर मत मे जीव तथा जगत् व्यावहारिक सत्य हैं जबकि वल्लभ के यहाँ पारमार्थिक सत्य है। वल्लभ के यहाँ सच्चिदानन्द ब्रह्म आनन्दशक्ति का तिरोभाव कर 'जीव' तथा चिदानन्द का तिरोभाव कर 'जगत्' हो जाता है। इस प्रकार यहाँ सर्वात्मवाद[2] है। निष्कर्ष यह कि वल्लभ सम्मत ब्रह्म में जहाँ विरुद्धधर्माश्रयत्व है वहाँ सर्वभवन सामर्थ्य भी। यह ब्रह्म सगुण भी है, कारण है विरुद्ध धर्मो का आश्रय होना। साथ ही उनमें अप्राकृत गुण भी है—व्यापकत्व, अव्ययत्व, सर्व-

---

१ वेद उपनिषद् जस कहै निर्गुन ही बतावै।
सोई सुगुण ह्वै नन्द की दांवरी बंधावै।

२ सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि आया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गोपाल।
× × ×
कीट ब्रह्म प्रजन्त जलथल इनहिं ते यह मण्ड।
× × ×
जल थल में कोउ और न बियौ।

शक्तिमत्त्व, स्वातन्त्र्य, सर्वज्ञत्व तथा प्राकृत गुण साहित्य। प्राकृत गुण रहित तथा अभिमान शून्य होने के कारण वह 'निर्गुण' भी है। अनन्त मूर्ति होने से अनेक है, अद्वैत होने से वह एक भी है। वह कूटस्थ भी है और चल भी। उसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। सजातीय जीवों से भिन्न नहीं, विजातीय जड़ जगत् से भिन्न नहीं, स्वगत अन्तर्यामी से भी भिन्न नहीं। ब्रह्म जगत् का समवायी कारण भी है और निमित्त भी।

यह सच्चिदानदमय परमात्मा नित्य रमणशील है। कभी वह अपने भूत अनभिव्यक्त रूप में रमण करता है और कभी प्रपंच रूप में आत्मव्यक्ति करता। प्रपच रमण की इसी इच्छा को 'स एकाकी नारमत बहुस्याम्, प्रजायेय'—उपनिषदों में कहा गया है। सुबोधिनीकार महाप्रभु वल्लभ ने कहा है कि यह महाइच्छा अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति द्विधा विभक्त है—'बहु स्याम्' तथा 'प्रजायेय'। प्रथम इच्छा के फलस्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म सत्, चित् आनन्द-तीन रूपों मे बिखर जाता है और 'प्रजायेय' के फलस्वरूप आविर्भाव तथा तिरोभाव नामक शक्तियों के कारण जीव और जगत् के रूप में परिणत हो जाता है।

पुरुषोत्तम[३] पद वाच्य नित्यानन्द स्वरूप परतत्व ही जब बहुत होना चाहता है—तब जिस रूप में परिणत होता है—उस रूप को अक्षरब्रह्म[४] कहा गया है। यह सब कारणों का कारण है। इसे ही कारण ब्रह्म कहा गया है। इस स्थिति में सत्वांश का प्राधान्य होने के कारण आन्दांश प्रायः तिरोहित रहता है। यह अक्षरब्रह्म भक्त और ज्ञानियों को विभिन्न रूप में प्रतीत होता है। अक्षरब्रह्म मे रहती है सभी गुणों की सत्ता, परन्तु भक्तों को वह व्यापी वैकुण्ठ आदि लोकों के रूप मे दृष्टिगोचर होता है—जहाँ कतिपय गुणों का प्राकट्य है और कतिपय का अप्राकट्य। यही अक्षरब्रह्म ज्ञानी को गुणातीत, देशकालातीत तथा प्रकाशमय प्रतीत होता है। इनकी दृष्टि से वहाँ सभी धर्मों का तिरोभाव है—वह निर्धर्मक ब्रह्म है। इसी के सदंश से जगत को, चिदंश से अग्नि विस्फुलिंग की भाँति व्युच्चरित जीवों का और आनन्दांश से अन्तर्यामी का प्रकाश होता है।

पुरुषोत्तम का एक और रूप है: अन्तर्यामी जो सूर्यमण्डल आदि में है। इन्हीं का नामान्तर पुरुष या नारायण है। पुरुष तीन प्रकार के हैं: महत्स्रष्टा, ब्रह्माण्ड संस्थित तथा सर्वभूतस्थ। यह मुख्य अन्तर्यामी[५] कहा जाता है। परम-कारण अक्षर के सदंश से जड़ कणाएँ चिदंश से चित् कणाएँ तथा आनन्दांश से

---

३ अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख एक अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निजलोक विलासी॥

४ अक्षर अच्युत अविकार है निरकार है जोइ।
आदि अन्त नहिं जानियत आदि अन्त प्रभु सोइ।

५ सूर स्याम तुम अन्तर आमी वेद उपनिषद गावै।

अन्तर्यामी निकलते हैं। ये अन्तर्यामी उस मुख्य अन्तर्यामी के अंश है। ये आनन्द प्रधान जीव सदंश प्रतिशरीर मे भिन्न तथा तत् तत् जीव के नियामक मात्र है। जड और जीव के अन्तर् में रहकर सबका नियमन करने वाले पृथक्-पृथक् अन्तर्यामी समूह होते हैं। इनमें अन्तर्यामी का एक एक अंश मात्र प्रकट होता है।

इसके पूर्व कि 'जीव' के स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार किया जाय, यह आवश्यक है कि ब्रह्म की अनन्त शक्तियो में ही कतिपय उपयोगी शक्तियो के विषय में जान लिया जाय। ब्रह्म अनन्त शक्तियो मे सबलित है जिनमें बारह प्रमुख हैं। उनमें भी एक तो उनकी स्वरूप शक्ति चित शक्ति है और दूसरी जड शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध तथा परस्पर व्यावृत्त हैं—परन्तु जिस 'स्वरूप' के आश्रित हैं—उससे कोई विरोध नही है। माया, विद्या तथा अविद्या इन्हीं बारह शक्तियों में है। "माया"[6] उनके "सर्वभवन सामर्थ्य" का ही नामान्तर है, ठीक वैसे ही जैसे पुरुषों मे कार्य करने की क्षमता होती है। इसी शक्ति के बल पर लीला[7] का विस्तार तथा सृष्टि का आविर्भाव-तिरोभाव होता है। अविद्या तथा विद्या का सम्बन्ध जीव से ही है। अविद्या मे ही जीव संसार मे फँसता है और विद्या से उसे स्वरूपज्ञान तथा 'अक्षर' ज्ञान होता है। इस माया शक्ति का आविर्भाव तब होता है जब ब्रह्म में 'बहु स्याम्' होता है—सिसृक्षा होती है। इस समय शुद्ध व्यापक ब्रह्म माया वेष्टित हो जाता है। इसी परिवेष्टन के कारण वह लीला के लिए स्वेच्छा से अपने आनन्दांश तथा चिदंश को तिरोहित कर जीव एवं जगत की सृष्टि करता है। शंकर की माया से वल्लभ की माया भिन्न है। एक तो शंकर की माया की तरह वल्लभ की माया स्वतन्त्र नहीं है, वह पुरुषोत्तम की इच्छा के अधीन है। दूसरे वह स्वाश्रय ब्रह्म मे अविरुद्धस्वभाव है। तीसरे इससे आविर्भूत जगत् परमार्थतः है—मिथ्या या अनिर्वचनीय नही है। अविद्या[8] से जो 'संसार' होता है—वह अवश्य मिथ्या है।

ब्रह्म की चित् शक्ति दो विभिन्न धाराओं में काम किया करती है—एक धारा में वह अविच्छिन्न प्रवाह में प्रवाहित रहती है और दूसरी धारा में कण-कण करके झरती रहती है। यह क्षरण अक्षर का क्षरण माना जाता है। इस

---

६ प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।
७ आदि सनातन हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट घट बासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानै। चतुरानन सिव अन्त न जानै।
गुनगन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।
× × ×
नैननि निरखि स्याम स्वरूप
रह्यौ घर घर व्यापि सोई ज्योतिरूप अनूप।
८ मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।

क्षरणशील धारा को 'स्वरूप' की तटस्थ शक्ति कहा जाता है। सृष्टि के आदिक्षण में एक स्पन्दन होता है। उस स्पन्दन में जो बहिर्मुख भाव होता है, उसी के प्रभाव से ये जीवकणाएँ उद्‌धृत होती हैं। इसे यों भी कहा जाता है कि महाइच्छा या स्वातन्त्र्य के उन्मेष से जब सृष्टि की सूचना होती है तब ये सब अन्तर्लीन परमाणुपुंज चैतन्य के तलदेश से ऊपर की ओर वेग से उठते हैं। स्वरूप में जितने भी परमाणु पुंज एक रस अव्यक्त दशा में रहते हैं—उनमें से कुछ तो जाग्रत होकर अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जड़ राज्य अथवा नित्य-धाम की ओर मुड़ते हैं और कुछ अनादिकाल की घोर सुषुप्ति में निमग्न रहते हैं। निष्कर्ष यह कि सृष्टिकाल में ये चित्कणाएँ दो अवस्थाओं में रहती हैं—सुषुप्त तथा जाग्रत्। इन जाग्रत् जीवकणाओं की भी तीन स्थितियाँ होती हैं—एक अन्तर्मुखी, दूसरी बहिर्मुखी और तीसरी मध्यस्थ। अन्तर्मुखी प्रकृति वाले जीव जाग्रत् होते ही चिदानन्दमय राज्य में प्रविष्ट होते हैं और जिनकी प्रकृति बहिर्मुख होती है वे आत्मविस्मृति[1] पूर्वक वाह्य शक्ति रूपी माया के आकर्षण से मायागर्भ में प्रवेश करते हैं जिनको दोनों तरफ सम आकर्षण है—वह मध्य में स्थित रहते हैं। इसी तथ्य को अन्यत्र अन्यथा भी कहा गया है।

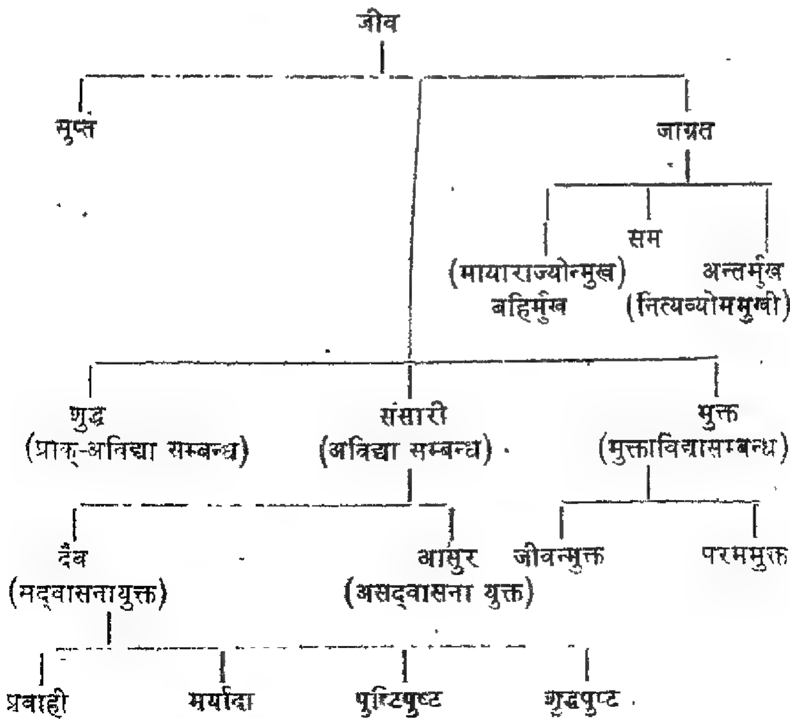
यह तो स्पष्ट ही है कि जब परतत्त्व प्रपंचरमण चाहता है तब वही अपनी तिरोभाव शक्ति से अनन्दांश को ढँक लेता है और जीवरूप में परिणत हो जाता है। अवरोहण तथा आरोहण की दृष्टि से विचार करें, तो जीव तीन प्रकार का माना जा सकता है। शुद्ध, संसारी तथा मुक्त। शुद्धावस्था स्फुलिंगवत् व्युच्चरण की अवस्था है। इस स्थिति में आनन्दांश का तिरोधान रहता है। अविद्या का संस्पर्श नहीं रहता। इसीलिए षाड्‌गुण्य का तिरोधान भी नहीं रहता। शांकर दर्शन की तरह यहाँ का जीव भाव अनित्य नहीं रहता, नित्य होता है। परिमाण में अणु तो है ही। यही शुद्धजीव अविद्या का सम्बन्ध होते ही 'संसारी' हो जाता है। यहाँ षाड्‌गुण्य का तिरोभाव हो जाता है। षाड्‌गुण्य हैं—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य। ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता, यश के तिरोधान से हीनता, वीर्य के तिरोधान से असामर्थ्य, श्री के तिरोधान से समस्त विपत्तियों का आस्पद, ज्ञान के तिरोधान से अनात्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है। इसी को पंचविध अध्यास कहा जाता है—स्वरूप विस्मरण तथा उसके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण में आत्माध्यास उत्पन्न होता है। यही अविद्या के पंचपर्व हैं। आनन्द के तिरोधान से दुःख पैदा होता है। बद्ध या संसारी जीवों में भी दो प्रकृति के लोग देखे जाते हैं—दैवभावापन्न तथा

---

१ अपुनपौ आपुन ही विसर्‌यौ
जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रम भ्रम भूलि भर्‌यौ।
सूरदास नलिनी को सुवना कहि कौने जकर्‌यौ।

आसुर भावापन्न। दैवत्व है—सूक्ष्मसद्वासना विशिष्ट मुक्ति-अधिकार और असुरत्व निम्नगामिनी असद्वासना। इसे यो भी कहा जा सकता है कि जब सृष्टि-काल मे शक्ति अलग की जाती है तब शक्ति परिगृहीत भाव असुरत्व है और स्वपरिगृहीत भाव देवत्व। शक्ति परिगृहीत माया विवाहित है और स्वपरि-गृहीत, भगवत्परिगृहीत। दोनों दोनों को नहीं छोड़ते। असुर जीवों मे मायावश मोह होता है और ज्ञान तथा भक्ति जैसी शक्तियाँ सक्रिय नहीं होतीं। इसीलिए उन्हे सायुज्य नहीं मिलता परन्तु भागवदिच्छा से सब कुछ होता है और हो सकता है। अनुग्रह प्राप्त दैव जीव चार प्रकार के होते है—शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट, तथा प्रवाहपुष्ट।

आरोहण की दृष्टि मे विचार करें तो 'मुक्त' जीव के दो रूप मिलते है—जीवन्मुक्त तथा परममुक्त। जीवन्मुक्त वह है जिसकी अविद्या विद्या द्वारा नष्ट की जा चुकी है। ये जीव परमव्योम अथवा बैकुण्ठ के अतिरिक्त अन्यान्य लोकों मे निवास करते हैं जबकि परममुक्त जीव पुरुषोत्तम की विशिष्ट कृपा मे परम व्योम में प्रवेश करते हैं। इन्हें परामुक्ति तथा विशुद्ध ब्रह्म भाव की प्राप्ति होती है। विभिन्न रूपता यों हुई—



यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि वल्लभ मत में जीवात्मा अणु-परिमाण, ब्रह्मांश तथा ब्रह्माभिन्न है। वह ज्ञाता है, ज्ञान भी है। वह चेतन नित्य, तिरोहितानन्द, निराकार तथा अज्ञानगम्य है। अक्षर ब्रह्म से निर्गत होने के कारण उसका स्वाभाविक विशुद्ध सत्त्व भी खण्ड-खण्ड होकर अणु-परिमाण मे जीव के साथ जुट जाता है। यों तो वह अणु ही है, परन्तु भगवदाविष्ट में भगवद्धर्म का प्राकट्य हो जाता है। यह जीव किसी दृष्टि से साकार भी है और किसी दृष्टि से निराकार भी। इन्द्रियग्राह्य न होने से निराकार है और आराग्रमात्र होने से सूक्ष्मपरिच्छेदी, फलतः साकार भी।

वल्लभमत में चिदंश तथा आनन्दांश—दोनों का तिरोभाव कर ब्रह्म ही जगत् रूप मे परिणत होता है। इस परिणाम में किसी प्रकार की विकृति मूल तत्व नही आती। कनक[१०] कुडल में जिस तरह अविकृत रहकर आकार विशेष मे परिणत होता है ठीक वैसे ही परतत्व अपनी अचिन्त्य-शक्ति 'माया' के प्रभाव से जगत् या प्रपंच रूप मे भासित होने लगता है, यद्यपि यह जगत् तिरोहित चिदानन्द ब्रह्म की परिणति है—तथापि सच्चिदानन्दमयता इसमें अनुस्यूत है। कि वा यह परिणाम आनन्द का ही परिणाम है—तभी इसमें साकारता है। यह जगत् या प्रपंच नित्य है, शांकर मायाकृत जगत् की भाँति अनित्य नही है। हाँ, इस जगत् का आविर्भाव तिरोभाव अवश्य होता है—परन्तु निवृत्ति नही होती। माया की शक्ति ही अविद्या है जिसके कारण जीव 'संसार'[११] की रचना करता है। प्रपंच और संसार भिन्न हैं। 'मैं' और 'मेरा' (अहन्ता तथा ममता) ही अविद्याकृत गलतफहमी है, इसी का नाम संसार है। अज्ञान, भ्रम आदि नाम संसार के वाचक हैं, जगत् या प्रपंच के नही। प्रपंच के अन्तर्गत सब कुछ जब भगवान् का ही रूप है—तब उसे 'मैं' और 'मेरे' के रंग में देखना भ्रान्ति ही तो है। तत्वज्ञान होने पर इस भ्रमात्मक संसार की निवृत्ति हो जाती है परन्तु जगत् या प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती।

जहाँ तक 'सूरसागर के साक्ष्य पर सूर की दर्शन विशेष के प्रति आस्था

---

१० ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता मांहि समाही।
त्यों ही सब जग कुटुम तुमहि ते पुनि तुम मांहि विलाहीं।
जाके उदर लोक मय जलथल पंचतत्व चौखानि।

११ यह संसार सुआ सेमर ज्यों सुंदर देखि लुभायौ।।
माया नटिनी लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै।
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वांग करावै।।
मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहा क्यौ हरि बिसराया।।

का सम्बन्ध है—उनके तत्व हैं—'पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम'। आचार्य वल्लभ के उक्त वैचारिक आलोक में ही सूर प्रतिपाद्य 'पुरुषोत्तम' को समझा जा सकता है। सूर उन्हें निर्गुण-सगुण' कहते हैं। बताते हैं 'सहमरूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनिदोय' फिर 'सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप'—

कोटिकल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल स्वरूप।
सकलतत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब हैं अंश गुपाल।

+ + +

जहं वृन्दावन आदि अजिर जहं कुंज लता विस्तार।
तहं विहरत प्रियप्रीतम दोऊ निगम भृ ग गुंजार॥

अर्थात् श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं, वे निर्गुण भी हैं और सगुण भी हैं—विरुद्ध धर्माश्रय है। अनादि हैं—सबके आदि हैं—अखण्ड और एक रस हैं। पहले एक थे, फिर सहस्र रूप हो गये। अपनी निजाशक्ति योगमाया से ही सकल तत्व, ब्रह्मांड, देवगण, श्रीपति, नारायण आदि की उन्हीं से आविर्भूति हुई। ये सब उन्हीं के अंश हैं और वे स्वयम् अंशी हैं। वे नित्य वृन्दावन के अजिर में अखण्ड रस रूप से अपनी आदि रस शक्ति राधा के साथ युगल रूप में विहार करते रहते हैं। वे ही अक्षर ब्रह्म रूप हैं—वे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी है। आचार्य शंकर सम्मत चरमतत्व इस प्रकार का नहीं हो सकता। वह निर्विशेष है, उसमें एकान्त भूत शक्तियाँ नहीं है, माया है भी तो जड़ात्मक और ज्ञाननिवर्त्य। सूर के ब्रह्म को इस आलोक में नहीं समझा जा सकता। शंकर मत में सारा प्रसार ब्रह्म की उपाधिभूत जड़ माया का है—यहाँ सब कुछ वह स्वयम् ही है, उसका कर्तृत्व भोक्तृत्व कुछ भी मायोपाधिक नहीं है—लीला के लिए है। यद्यपि शंकर के ब्रह्म की तरह यहाँ वह एक है, उसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद नहीं है—परन्तु वह उनकी भाँति निर्धर्मक नहीं, सधर्मक और सविशेष है। ये धर्म, विशेष अथवा गुण प्राकृत नहीं है—अतः वह निर्धर्मक, निर्गुण एवं निर्विशेष भी कहा जा सकता है। वस्तुतः वह विरुद्ध धर्माश्रय है। वह रसमय है। शंकर के यहाँ समस्त द्वैतों का निषेध है—यहाँ सर्व का निषेध नहीं है—परन्तु समस्त जगदात्मक द्वैत मूल तत्व से भिन्न रूप नहीं है—एकरूप है। अतः द्वैत रूप में परिणत होकर भी वह अद्वैत है। यहाँ चेतन और जड़ दो होकर भी दो नहीं हैं—सभी कुछ सच्चिदानन्द[१२] है, यह अवश्य है कि कहीं उसकी

१२ ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता माहि समाहीं।
त्यों ही सब जग कुटुम तुमहि तैं पुनि तुम माहि बिलाहीं।
जाके उदर लोकमय जल थल पंचतत्त्व चौखानि

लीलेच्छा से आनन्दांश तिरोहित है और कहीं चिदंश और आनन्दांश, दोनों। शंकर के यहाँ जीव और जगत् मूल तत्व का विवर्त है, जड़ माया का परिणाम है, परन्तु यहाँ मूलतत्व स्वयम् ही जीव तथा जगत रूप में परिणत होता है। वह परिणत होकर भी दूध की तरह विकृत नहीं होता, स्वर्ण की भाँति अविकृत रहता है। बल्कि कहें तो कह सकते हैं कि कामधेनु और कल्पवृक्ष की भाँति विश्वात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। कामधेनु सब कुछ सृष्ट करती हुई भी अपने स्वरूप में एकरस बनी रहती है। यही अविकृत परिणामवादी स्थिति सूर के आराध्य की है। वह स्वयं अगणितानन्द रसमय है। लीलेच्छा होते ही सत्व का प्राधान्य होता है और आनंदांश अपेक्षाकृत न्यून हो जाता है—परतत्व की इस स्थिति का ही नाम 'अक्षर ब्रह्म' है। यह गणितानन्द है। माया यहाँ भी है, परन्तु वह सर्वभवनसामर्थ्य रूपा निजाशक्ति है, शंकर की तरह स्वरूप भिन्न और ज्ञान निवर्त्य नहीं। इसीलिए इनका ब्रह्म शुद्ध है और शांकरब्रह्म माया शवल होने के कारण अशुद्ध। इनका अक्षर ब्रह्मावस्थ चरमतत्व ही विश्वात्मक कार्यब्रह्म का कारण है—और दोनों में कोई भेद नहीं है। इसीलिए इनका मत शुद्धाद्वैत कहा जाता है। वह एक ओर शुद्ध अद्वैत है और दूसरी ओर शुद्धों-कार्यब्रह्म तथा कारण-ब्रह्म का अद्वैत है।

यह अक्षरावस्थापन्न गणितानन्द ब्रह्म ही अपने सदंश से जड़जगत्, चिदंश से विस्फुलिंगों की भाँति जीवकणाएँ और आनन्दांश से अन्तर्यामियों को आविर्भूत करता है। ये अन्तर्यामी अन्तर्यमन् करते हैं।

यह अक्षरब्रह्म दो प्रकार का है—एक तो वह जिसे भक्तजन पुरुषोत्तम का वास कहते हैं, जो व्यापीवैकुण्ठ के रूप में प्रकाशित रहता है। दूसरा उसी का वह रूप जो ज्ञानियों को प्राप्त होता है, तिरोभाव शक्ति के माहात्म्य से वह उन्हें सच्चिदानन्द, स्वयं प्रकाश, निर्गुण तथा निर्विशेष रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार परम तत्व का एक अगणितानन्द रस रूप पुरुषोत्तम और दूसरा रूप गणितानंद अक्षर ब्रह्म। इसके भी उपर्युक्त दो रूप हैं। इनके अतिरिक्त वही अन्तर्यामी रूप से भी सर्वत्र अन्तः प्रविष्ट होकर सबका नियन्त्रण भी करता है। शंकर के यहाँ जीव का स्वरूप विभु है, इनके यहाँ अणुरूप। शंकर के यहाँ जगत् और संसार दो नहीं हैं, इनके यहाँ माया की जीवाश्रित अविद्या शक्ति से अहंता और ममता रूप संसार मिथ्या है—जिसकी विद्या से निवृत्ति होती है और जगत् सर्वथा नित्य और अनिवर्त्य है। सूर ने वल्लभ सम्मत अट्ठाइस तत्वों की भी गणना कराकर अपने साहित्य का दार्शनिक सन्दर्भ स्पष्ट कर दिया है।

भक्तों के व्यापीवैकुण्ठ रूप अक्षरधाम में वह रसमय, प्रेममय लीला पुरुषोत्तम अपनी अन्तरंगा, महाभावस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति राधा के साथ नित्य

विहार करते रहते हैं। वह गोलोक या गोकुल भी कहा जाता है। गोपियाँ भी उन्हीं की निजी शक्तियाँ हैं—जो नित्य रास में रत रहती हैं।

सूर-साहित्य में जीवतत्व का इतना सविस्तर और बारीकी के साथ तो उल्लेख नहीं है, परन्तु उसे अंश रूप में स्मरण किया गया है। वल्लभ दर्शन में जीवसृष्टि दैवी और आसुरी—दो प्रकार की कही गई है। दैवी जीव सृष्टि भी दो प्रकार की है—दैवी पुष्टि जीव तथा दैवी मर्यादा जीव। दैवी पुष्टिजीव भी चार प्रकार के हैं—शुद्ध, पुष्टि, मर्यादा एवं प्रवाह। आसुरी जीवसृष्टि प्रवाही कही जाती है—जिन्हें दुर्ज्ञ और अज्ञ कहा जाता है। दैवी पुष्टिजीवों को स्वरूप मुक्ति मिल सकती है। दैवी मर्यादा जीवों की कर्म तथा ज्ञान द्वारा अक्षर-सायुज्य मुक्ति होती है। आसुरी जीवसृष्टि में अज्ञ प्रवाही का ईश्वर संहार द्वारा उद्धार हो सकता[13] है, परन्तु दुर्ज्ञ का कथमपि नहीं।

अधिक विस्तार में न जाकर अन्ततः इतना ही कहना चाहता हूँ कि दार्शनिक संकल्प से रचना न करने के कारण आचार्य की दृढ़ता कहीं संकुचित शिथिल अवश्य हो सकती है, परन्तु इनके साहित्य को यदि किसी दर्शन का सन्दर्भ व्याख्या के लिए अपेक्षित है—तो वह वल्लभ का शुद्धाद्वैतवादी दर्शन ही। प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहना आचार्य सम्मत अट्ठाइस तत्वों के विपरीत जाता है और माया को मिथ्या कहने से शांकर प्रभाव झलक सकता है—परन्तु इनका निराकरण भी विद्वानों ने किया है और मैं उनसे सहमत हूँ।

सूर का जीवन-दर्शन

सूर ने अपना दर्शन, अपनी साधन-प्रक्रिया का निर्देश अपने मन्तव्य का संकेत भ्रमर गीतसार तथा रास के माध्यम से किया है। वे अपने आराध्य क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम रसरूप श्रीकृष्ण के माध्यम से यह चिन्ता व्यक्त करते हैं कि देश की एक ऐसी धारा है जो उनसे विसंवाद रखती है। उद्धव उस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उद्धव की दृष्टि में चरमतत्व निर्गुण और निर्विशेष है—उसमें रूप, रेख और वर्ण नहीं है। उससे भिन्न प्रतीत होता हुआ यह संसार मिथ्या है। इसलिए इस तत्त्वेतर प्रपंच से विरक्त होकर समाधि साधनी चाहिए और तत्व-ज्ञान-लाभ करना चाहिए। माया के बन्धन से यदि मुक्ति पानी है तो यही रास्ता है। उस घट-घटवासी तत्त्व का साक्षात्कार समाधि से सम्भव है। उद्धव की धारणा है कि यदि गोपियाँ विरह-दुःख से छुटकारा चाहती हैं तो

---

१३ चितवन कृपाकटाक्ष तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान।
मोह निशा को लेश रह्यो नहि भयो विवेक विहान॥

'सगुन रूप तजि निर्गुन ध्यावहु'। पारस के स्पर्श से जैसे लोहा पारस ही हो जाता है, वैसे ही 'तत्व' की उपासना से उपासक उपास्य ही हो जाता है।

तत्व भजै वैसी ह्वै जैहो पारस परसैं लोहु।

चाहे जगत् हो या संसार—सभी मिथ्या है। वात्सल्य, दाम्पत्य, सख्य आदि सभी रागात्मक सम्बन्ध और सम्बन्धी—केवल कहने-सुनने के हैं। सुख-दुःखात्मक प्रपंच से मुक्ति पानी है तो निर्गुण-निराकार की ही उपासना करनी चाहिए। प्रक्रिया का और विस्तार करते हुए उन्होंने कहा—

जाकों जैसो रूप मन राचै, सो अपबस करि लीजै।
आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै॥
षट दल अठ द्वादसदल निरमल, अजपाजाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि यौं मिलि है बनमाली॥

सगुण तो माया की उपज है—उसके विरह में भटकना नासमझी है।

यह सन्देस कह्यौ है माधौ। करि बिचार जिय साधन साधौ।
इडा, पिंगला, सुषमन नारी। सुन्य महल में बसत मुरारी।
ब्रह्मभाव करि सब में देखौ। अलख निरन्जन ही कौं लेखौ।
पदमासन इक चित मन ल्यावौ। नैन मूँदि अन्तर्गति ध्यावौ।
हृदयकमल में ज्योति प्रकासी। सोइ अच्युत अबिगत अबिनासी।
इहि उपाइ बिरहा तुम तरि हौ। जोगपंथ क्रम क्रम अनुसरिहौ।

इस प्रकार विरह से मुक्ति पानी हो, तो एकमात्र योग मार्ग ही है।

वस्तुतः मध्यकाल में 'आगम' और 'भागवत' के प्रभाव में उभरने वाली अध्यात्म साधना में 'प्रेमा पुमर्थो महान्' की घोषणा की गयी और प्रेम को या भक्ति को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, उसे सर्वोपरि माना गया। सूर की गोपियाँ कहती हैं :

प्रेम प्रेम तें होइ प्रेम तें पारहिं जइयै।
प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहियै।
सांची निहचै प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
एकै निहचै प्रेम को जनै मिलै गोपाल। (४०९५)

वह तत्व 'प्रेमात्मा' है। अनुभूयमान प्रेम मात्र उसी महासमुद्र की छलकन है संसार सागर से संतरण का एक ही माध्यम है और वह है—प्रेम। अर्थात् 'प्रेम' साध्य भी है और 'प्रेम' ही साधन भी। प्रेम ही के गलत दिशा में प्रयाण होने से बन्धन होता है और प्रेम ही के सही रास्ते की ओर मुड़ने से परमार्थ की भी प्राप्ति है। ——— लीला पुरुषोत्तम लीला के लिए अपनी शक्ति का सहारा लेता है—अपने स्वरूप का ही द्विधा विभाजन कर देता है—निज और निज

शक्ति। इस धारा में यही निजाशक्ति ह्लादिनी है—अन्तरंगा है, महाभाव स्वरूपा है—राधा है। साध्य भक्ति इसी की वृत्ति है। अन्तःकरण की वृत्ति इसका प्रकाशक मात्र है—इसीलिए औपचारिक रूप से वह भक्ति कही जाती है। इस वृत्ति में प्रकाशन क्षमता लाने के लिए 'मल' शोधन आवश्यक है—जो साधन भक्ति से सम्भव है।

गोपियों ने इस परम-प्रेम-स्वरूप पुरुषोत्तम सगुण तत्व को अनुभव के माध्यम से पाया है। वे मानती है कि जीवन और जगत् के माध्यम से ही उसने अपने को लीलार्थ व्यक्त किया है—अतः जिस माध्यम से वह व्यक्त हो रहा है, उसी माध्यम से उसी के भीतर से उसे समझा जा सकता है—उसे छोड़कर नहीं। जगत् के रूप में ही चूंकि उसने अपने को व्यक्त किया है—अतः उससे पृथक् करके जब परतत्व को उद्धव समझाना चाहते हैं तब गोपियाँ परेशान हो जाती है। चरमतत्व अनन्तानन्त सम्भावनाओं से सम्वलित है—वह विरुद्ध धर्माश्रय है—निर्गुण है ही नहीं—जो वहाँ है नहीं, वह आ कहाँ से गया? और आ गया, तो वहीं से आया। धर्म और धर्मी में भेद तो है नहीं—चाँद और चाँदनी में कोई भेद है? वे झल्लाकर कहती हैं :

> निर्गुण कौन देश को वासी?
> मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै बूझति साँचि न हाँसी।
> को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि को दासी?
> कैसे वरन, भेष है कैसो, किहि रस में अभिलासी?

निर्गुण का अस्तित्व कहाँ है? गोपियाँ शपथपूर्वक जानना चाहती है—हँसी-ठिठोली नहीं कर रही हैं। उसकी माँ कौन है, उसका जनक कौन है, उसकी पत्नी कौन है, उसकी दासी कौन है? उसका वर्ण कैसा है, किस वेष में वह रहता है—किस रस में उसकी रुचि है? देश, काल, वर्ण, वेप, जननी, जनक, नारी और दासी—यह सब जगत् है—इसी रूप में उसने अपने को व्यक्त किया है। इनको छोड़कर उसे कैसे समझा जाय? ये सम्बन्ध क्या उपेक्षणीय है? स्वयं कृष्ण कहते है। परेशानी गोपियों को ही नहीं है, कृष्ण को भी है :

> संग मिलि कहौं कासों बात।
> यह तो कहत जोग की बातै, जामैं रस जरि जात।
> कहत कहा पितु मातु कौन के, पुरुष नारि कह नात?
> कहाँ जसोदा सी है मैया कहाँ नन्द सम तात?
> कहं वृषभानु सुता सग को सुख, वह वासर वह प्रात।
> सखी सखा सुख नहिं त्रिभुवन में, नहिं बैकुण्ठ सुहात।
> वे बाते कहियै किहिं आगै यह गुनि हरि पछितात।

उद्धव के साथ क्या बात की जाय ? यह तो ऐसे योग की बात कहता है जिसमें रस ही भस्म हो जाता है। यह तो कहता है पिता-माता, पुरुष-नारी कहीं कुछ नहीं। अरे, यशोदा के समान माता और नन्द के समान पिता क्या ऐसा-वैसा ही है ? वृषभानु-सुता के साथ का सुख क्या साधारण सुख है ? वे दिन, वे सुबहे क्या उपेक्षणीय हैं ? सखी सखा का सुख बेजोड़ है—उसके सुख के आगे बैंकुण्ठ का एकरस सुख रुचिकर नहीं लगता। अब, इस अनुभूत मर्म को इस अनुभव-शून्य को कैसे समझाया जाय ? एक ही रास्ता है कि इसे गोपियों के पास भेज दिया जाय। इससे दोनों काम सध जायगा—गोपियों का मनोरंजन भी हो जायगा—विरह विनोदन भी हो जायगा और इसकी अकल भी ठिकाने आ जायगी।

यह क्या रहस्य है कि मध्यकाल में, शंकर, विष्णु, हों या कृष्ण-भ्रम-निवारण के लिए वे अपने सखाओं और परिकरों को अन्य मर्मियों के पास भेजते है। 'मानस' में विष्णु परिकर गरुड़ को मोह हुआ और शंकर ने उसे 'सत्संग' का मार्ग बताकर कागभुशुंडि के पास भेजा। 'सूरसागर' में भी श्रीकृष्ण ने अपने परम प्रिय सखा को गोपियों के पास भेजा। क्या यह 'सत्संग' और 'गुरु' की महिमा पर बल देने के लिए प्रथा चल पड़ी थी ? सम्भव है यही हो। कृष्ण हैं तत्व और गोपियाँ है उनका आचरित पक्ष। विचार नहीं, आचार ही प्रभावित करता है। भक्त और भक्ति की महिमा का प्रतिपादन भी निर्मित हो सकता है।

उद्धव गोपियों के पास जाते हैं और अपना मायावादी जीवन-दर्शन प्रेममूर्ति गोपियों के समक्ष कृष्ण-प्रेषित-सन्देश के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

'सूर' पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप कुमारि।

गोपियो ने कज्जलाक्त अश्रु-प्रवाह से श्याम की पाती को श्याम ही बना दिया। वे क्या बांचती, जिनकी आँखों में आसुओं का उद्वेल प्रवाह और हाथ विरह प्रज्वलित। उद्धव ने बांचा, गोपियों पर अप्रत्याशित स्वर का विपरीत प्रभाव पड़ा। उन्होंने विश्वास नहीं किया। नाना रागात्मक सम्बन्धों से ओत-प्रोत जगत् के रूप में अपने को व्यक्त करने वाला प्रेममय पुरुषोत्तम अपने स्वरूप ही का निषेध कैसे कर सकता है ? ये बातें उनके स्वभाव से मेल नही खाती। यदि उन्हें यही शुष्क तत्वबोध अभीष्ट होता तो 'रास' रस तक क्यों पहुँच गया होता। यह ज्ञानदीप नहीं है जो विषय बयार से बुझ जाय—यह उज्ज्वल नील-मणि है जिस पर विपरीत बयार असर नही डाल सकती। इस रस प्रवाह में ज्ञान के—तर्काश्रित ज्ञान के पठार बह जाते हैं—वह ज्ञानातीत दशा हो जाती है। क्या सचमुच विरहिणी ब्रजांगनाओं को रसमय पुरुषोत्तम का विरह है ? और विरह है तो ऐसा विरह है जिस विरह में भी रस है। रस के लिए ही वह विरह

है, अभाव ही सीमातीत होकर भाव बन जाता है, तीव्र प्यास से ही जल प्रकट हो जाता है—रास में विरह के सीमातीत हो जाने पर ही तो प्रेम सान्द्र होकर कृष्णाकार बन गया था। यह वियोग ऐसा वियोग है जहाँ सामान्य नही, विशिष्ट योग है—योग ही योग है—वियोग है ही नही। भक्ति की इस दशा तक पहुँची हुई प्रेमात्मा गोपियों को यह उपदेश देना कि वे योग द्वारा निर्गुण प्राप्ति की साधना करें, षड्दर्शन निष्णात आचार्य को बारहखड़ी पढ़ाना है—

सूर सकल षट्दर्शन वे, हौं बारहखडी पढ़ाऊँ।

ये वे गोपियाँ है जिन्होंने—

मन क्रम वच हरि सौं धरि पति व्रत प्रेम जोग तप साध्यौ।

गोपियाँ सर्वात्मना कृष्ण के प्रति समर्पित है—वे प्रेमयोग का तप साध रही है—साध नही रही हैं, साध चुकी हैं, सिद्ध है। सिद्ध हैं इसलिए प्रेम का पाठ पढ़ने के लिए तत्वात्मा पुरुषोत्तम ने गोपियो के पास उद्धव को भेजा था :

सूर देखि दृढ़ता गोपिन की, ऊधौ दृढ़ व्रत पायौ।
करी कृपा जदुनाथ मधुप कौ, प्रेमहि पढन पठायौ।

और उद्धव ने हृदय मे मान भी लिया—गोपियो को गुरु।

प्रथम ही कहि वचन एकै, रह्यौ गुरु करि मानि।
सूर प्रभु मोकौं पठायौ, यहै कारन जानि।

अब समझ में आया उद्धव को कि गोपियों को समझाने के लिए इन्हें कृष्ण ने नहीं भेजा था, स्वयं समझने के लिए उनके पास इन्हे भेजा था। रस कृष्ण है और पात्रता गोपियों की ओर से साधको को मिलती है। सूरसागर में एक पद है, जिसमें ससुराल से वापस आने पर पिता भी राधा से सुख-दुःख पूछते है। राधा कहती है कि घर भरा-पूरा है—रस का समुद्र है—दूध उद्वेल होकर बहता रहता है—मुक्त हाथ दूध बँटता है—परन्तु पात्र नहीं मिलता—इसलिए लोगों को कठिनाई होती है। पिता ने कहा—बेटी, पात्र अब राधा की ओर से बँटेगा—किसी को कोई कष्ट नहीं होगा। रसोपलब्धि की पात्रता लोगो में राधा की ओर से आयेगी—दी जायगी। यह राधाभाव है—कान्ताभाव है जिससे युक्त साधक रसरूप कृष्ण का भोग करता है। गोपियो की ओर से पात्रता प्राप्त कर रसरूप कृष्ण के पास जब उद्धव लौटते है तब

"त्रिगुन तन करि मोहि मानत ब्रह्म मानत और"

की बुद्धि उलट जाती है।

इस प्रेम-योग को साधा कैसे जाय—कैसे साधा था गोपियों ने ? कामालम्बन को त्यागकर कामातीत को आलम्बन बनाने से—पति को त्याग कर कृष्ण को आलम्बन बनाने से, व्यक्ति से रागात्मक सत्ता को विराट् तक फैला लेने से। रास

में राग विराट् पर फैल जाता है। घुल-मिलकर एकतान होने में क्षुद्र अहन्ता बाधा डालती है—अतः उसे हटा देने में ही प्रेमयोग सम्भव हुआ। त्याग का भी ग्रहण किया—पर कृष्णाभिन्न समझकर।[1] क्षुद्र अहन्ता का त्याग हो जाने पर, अविद्यामूलक कर्तृत्वाभिमान का त्याग हो जाने पर ही 'भाव' दशा आती है—जो प्रगाढ़ होकर महाभाव बन जाती है। जब तक अविद्या है अविद्यामूलक संकीर्ण अहंता है,[2] ममता है और जब तक अहंता-ममता है तब तक तन्मूलक कर्तृत्वाभिमान है और जब तक कर्तृत्वाभिमान है तब तक कर्तृत्व-सापेक्ष 'कर्म' ही होता है—'भाव' हो ही नहीं सकता। सूरसागर मे इसी दशा का नाम 'भाव'[3] भगति है जो और प्रगाढ़ होकर 'प्रेम भगति'[4] में परिणत हो जाती है। प्रेम का कर्त्तव्यबोधपूर्वक निर्वाह और बात है और स्वारसिक प्रवाह से, स्वभाव से ही वह निकलना—फूट पड़ना और बात है। इस उद्वेल स्वारसिक प्रवाह मे लोक-वेद की मर्यादाएँ ढह जाती है—यह सर्वातीत है। सर्वातीत होकर फिर सर्वात्मिक भी हो जाता है। प्रेम साधना तभी पूरी होती है जब सिद्ध सब को प्यार करने लगता है। उसके लिए सब कुछ रमणीय हो जाता है। आज इस प्रेमयोग की बहुत जरूरत है।

वर्तमान समष्टि सर्जना उस धरातल की तलाश कर रही है जहाँ पर चिर तृप्ति मिल सके—जहाँ पर मानव जिसे (तृप्ति) चाहता है उसे पा सके—अपने को पा सके। उसने सबको नकार कर भौतिक स्तर पर तृप्ति की खोज की—नही मिली। मादक द्रव्यों से आत्मविस्मृति मे तृप्ति की तलाश की—नही मिली। फिर तलाशती हुई चेतना अध्यात्म-प्राकृतिक 'भारत' की ओर बढ़ रही है कि शायद वहाँ वह मिल जाय, जिसकी 'तलाश' अनजानी चल रही है। नर-नारी घटित समाज शारीरिक या भौतिक स्तर पर उन्मद होकर जिस 'तृप्ति' को ढूंढ रहा है—वह वहाँ तो मिल ही नही रही है—उल्टे ध्वंसात्मक अराजकता बढ़ रही है। जैविकी की विवशताएँ नर से नारी की सुरक्षा चाहती है— समाधिकार और सुरक्षा एकसाथ तभी सम्भव है जब अतिभौतिक रागात्मक लगाव एक का दूसरे के प्रति हो। प्रेम समाधिकार और सुरक्षा दोनों का प्रेरक हो सकता है। आज की 'तलाश' इसी 'प्रेम' की ही भूमिका पर सुलझायी जा सकती

---

१ गोपी ग्वाल कान्ह द्वै नाही, ये कहुं नैकु न न्यारे।
जहाँ जहाँ अवतार धरत हरि ये नहिं नैकु विसारौ।
एकै देह बहुत करि राखै गोपी ग्वाल मुरारि।

२ गर्व हत्यो तनु विरह प्रकाम्यो। प्यारी व्याकुल जान्यो।

३ सूर धन्य तिहि के पितु माता भाव भगति है जाके।

४ किहि अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भगति ते करत उदासी।

है—दूसरा कोई रास्ता नहीं है। चिराकांक्षित चिरतृप्ति का एकमात्र आधार उत्तरोत्तर अशरीरी होता हुआ 'प्रेम' ही हो सकता है। सूर का साहित्य इसी 'प्रेम' का दर्शन, जीवन दर्शन देता है इसीलिए वह आज भी प्रासंगिक है।"

रासलीला

'रासलीला' हरिलीला का चरम, केन्द्रीय एवं परिणत रूप है। हरिलीला परतत्व की आह्लादात्मिका शक्ति के संकोच प्रसार मय रूपों का पर्याय ही है। भागवत, दशम अध्याय (द्वितीय स्कन्ध) के प्रथम दो श्लोकों में जिन दस विषयों का वर्णन है—वे भी एक प्रकार से हरिलीला के ही दस विध रूप हैं। वे दस हैं—सर्ग, विसर्ग स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इनमें से प्रथम पाँच लीलाएँ अन्वयात्मिका तथा परवर्ती पाँच व्यतिरेकात्मिका कहलाती हैं। सूरदास ने भी कहा है—

> श्री भागवत सकल गुन खानि
> सर्ग, विसर्ग, स्थान अरु पोषण ऊति मन्वन्तर आनि।
> सूरदास हरि लीला लखि कृष्ण रूप ह्वै जावे।
> ईश, प्रलय, मुक्ति, आश्रय पुनि ये दस लक्षन होय।

अशरीरी विष्णु द्वारा पुरुष शरीर का स्वीकार सर्ग है। पुरुष से ब्रह्मादि की समुत्पत्ति विसर्ग है। उत्पन्नों का नियम मर्यादा के साथ पालन स्थान है। स्थितियों की अभिवृद्धि का नाम पोषण है। पुष्टों का आचार ऊति है और सदाचार मन्वन्तर। इन सदाचारों के बीच विष्णु की भक्ति ईशानुकथा है। भक्तों की दृष्टि में प्रपंच का विलोप निरोध है। प्रपंचातीत होकर स्वरूप लाभ मुक्ति है। मुक्तों का ब्रह्मरूप से अवस्थान आश्रम है। सर्ग अर्थात् रचना दो प्रकार की है—अलौकिक और लौकिक। त्रिगुणातीत लीला अलौकिक है और सर्ग लीला अट्ठाइस तत्व आदि की उत्पत्ति है। सूरदास की धारणा है कि यदि जीव निरहंकार होकर इस लीला का साक्षात्कार कर सके—तो वह कृष्णात्मक ही हो जाता है।

आचार्य वल्लभ ने इस हरिलीला को नित्य और वर्षोत्सव पर्वों के रूप मे प्रतिष्ठित किया था। नित्य की भावना में श्रीकृष्ण नन्द भवन में बालभाव से और निकुंज में किशोर भाव से प्रातः से शयन-पर्यन्त नाना प्रकार की रसमयी लीलाएँ सम्पन्न किया करते हैं। वर्षोत्सव पर्वों की भावना मे षड्ऋतु आदि की लीलाएँ सन्निविष्ट हैं। ये लीलाएँ श्रीकृष्ण के जन्म समय अर्थात् जन्माष्टमी से प्रारम्भ होती हैं। ये लीलाएँ नित्य और आनन्दमयी हैं। आनन्दमयता के दोनों पक्ष—साधन पक्ष और साध्यपक्ष, इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इन बहुविध लीलाओं में से महत्व की सात हैं—रासलीला, मुरली, गोपियाँ, माखनचोरी,

चीरहरण, दावानल पान, और अमुखध। इनमें से पाँच साध्य हैं और दो साधन अर्थात् पाँच स्वरूपतः आनन्दमयी हैं और दो परिणति में।

इन सबका निःष्यन्द 'रासलीला' है। वैष्णव परम्परा में श्रीमद्भागवत को श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति माना गया है। बारह स्कन्धों में अंग-प्रत्यंग की कल्पना करके रास पंचाध्यायी को भगवान् के पंचप्राण के रूप में माना गया है। कृष्णलीला में रास लीला का सर्वाधिक महत्व है।

व्युत्पत्ति

(१) 'रास' शब्द का मूल 'रस' है और 'रसो वै सः' के अनुसार रस स्वयं भगवान् कृष्ण है। जिस दिव्यक्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे, एक रस ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीडा करे—उनका नाम रास है। (रास पंचाध्यायी, रासलीला रहस्य, पृष्ठ ४)

(२) डॉ० कक्कड़ के अनुसार 'रास' का अर्थ है—नृत्य के बीच में जोर से चिल्ला उठने की ध्वनि। 'रस शब्दे' धातु है भी (आस्वादन और स्नेहन में तो है ही)। हर्षोद्रेक में चिल्ला उठने की इस विशेषता के ही कारण इसे 'रास' कहा जाता है। आज भी आदिवासियों के नृत्यों में ऐसा होता है। डॉ० राम-नारायण अग्रवाल इस मत को अग्राह्य मानते हैं और उनका तर्क है कि रास के नृत्य केवल लोकनृत्य नहीं हैं—वे शास्त्रीय नृत्यों पर भी आधृत हैं।

(३) डॉ० दशरथ ओझा का मत है—'रास' शब्द संस्कृत का है ही नहीं, प्रत्युत देशी भाषा का है। रास नाम से प्रसिद्ध देशीनाट्यकला 'रास' नाम से ही संस्कृत ग्रन्थों मे उद्धृत कर गयी है। हो सकता है यह ग्वालों में प्रचलित कोई देशी नाटक रहा हो। डॉ० अग्रवाल ने इसका भी खण्डन किया है और भरत नाट्य शास्त्र में उल्लिखित 'रासक' के आधार पर इसे मूलतः संस्कृत का ही माना है। इस स्थिति मे अग्रवाल भी 'रसानां समूहो रासः' का मत स्वीकार करते हैं। श्रीप्रभुदयाल मीतल भी इसी व्युत्पत्ति के पक्ष में हैं।

ऐतिहासिक पक्ष

डॉ० रसिक विहारी जोशी तथा अन्य विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम रास के हेतु 'हरिवंश' में हल्लीसक शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका मे 'हल्लीसक' का अर्थ 'रास' ही किया है। इनके मतानुसार 'हल्लीसकक्रीडनमेकस्यैव पुंसः बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीड़ा' (हरिवंश २, २०, ३५ नीलकण्ठ)। एक पुरुष की अनेक स्त्रियों के साथ क्रीड़ा ही रास क्रीड़ा कही जाती थी। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हल्लीसक' शब्द का उद्‌गम यूनानी

'इलीशियन' नृत्यों (इलीशियन मिस्ट्रीडांस) से ईस्वी सन् के आसपास माना है। भारतीय परम्परा रासलीला तथा हल्लीसक के मूल उद्गम की श्रुति का संकेत करती हुई कहती है—'पद्मावस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविरेरिहाणा। ऋतस्य सद्म विचरामि विद्वान् मह देवानामसुरत्वमेकम्'—(हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व २०, २५-नीलकण्ठ मे उद्धृत।) श्रुतिका यह वर्णनात्मक चित्र स्पष्ट ही कृष्ण एव गोपियों के रासनृत्य के उद्गम का मूल स्रोत जान पड़ता है। हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व मे रास लीला का वर्णन इक्कीस श्लोकों में हुआ है। संक्षिप्त होने के कारण सम्भव है यह रासलीला का प्रारम्भिक रूप हो। इस सम्भावना की पुष्टि दो और कारणों से होती है—एक तो यह कि वहाँ 'राधा नहीं है और दूसरे यह कि कृष्ण विरह से गोपियों के मुक्त होने का भी उल्लेख नहीं है। ब्रह्मपुराण में यही वर्णन बत्तीस श्लोकों तक विस्तृत है। विष्णुपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण में रासलीला का विकास क्रमशः लक्षित होता है।

भागवत के दशम स्कन्ध के (२९ से ३३वें तक) पाँच अध्यायों में रास का वर्णन है। इसमें उपास्य काम विजित है, इसीलिए इसके द्वारा काम विजय रूप फल प्राप्ति मानी जाती है। वैष्णव भक्तो की मान्यता के अनुसार जिस प्रकार वृन्दावन के दिव्य, अवतरित और प्रकट नामक तीन रूप है, उसी प्रकार रास के भी रहस्यात्मक,रसात्मक और अनुकरणात्मक तीन रूप हैं। रहस्यात्मक रास गोलोक स्थित दिव्य वृन्दावन में होता है। इसे परब्रह्म श्रीकृष्ण ऋचा रूपी गोपियों के साथ दिव्य यमुना के पावन पुलिन पर अखण्ड रूप में नित्य-निरन्तर करते रहते हैं। इसीलिए इसे नित्य रास कहा जाता है। रसात्मक रास द्वापर युग में ऋचावतार गोपियो के साथ अवतरित वृन्दावन मे हुआ है—इसे कृष्णावतार रास कहा जाता है। ये दोनों मानव जगत हैं। बाहर होने के कारण अलौकिक और भावना जन्य कहे गये हैं। तीसरा अनुकरणात्मक रास अलौकिक वृन्दावन की प्रतिमा रूप प्रकट वृन्दावन मे होने से प्रेमी जनों के प्रत्यक्ष अनुभव और रसास्वादन की वस्तु है। इसे मध्यकालीन वैष्णव भक्तो ने श्री कृष्ण लीला के अनुकरण रूप में भक्तिरस का विस्तार करने के लिए आरम्भ किया है—मीतल, वल्लभ सम्प्रदाय रास के तीन रूप मानते हैं—(१) नित्य रास, (२) अवतरित रास या नैमित्तिक रास, (३) अनुकरणात्मक रास। अन्तिम रास भी दो प्रकार का होता है : भावनात्मक या मानसिक और देहात्मक। गोलोक अथवा निजधाम मे वृन्दावन में—भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्दविग्रह से अपनी आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रसमग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि और अनन्त है। यही भगवान का नित्यरास है (अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४९७)। यहाँ—

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेति तास्तथा ॥

इस रासलीला को दो रहस्यों में विभाजित किया जाता है—अन्तरंग और बहिरंग। पहले का अभिप्राय आनन्द रस का आस्वादन और दूसरे का अभिप्राय काम को पराजित करना है। इसीलिए जब तक काम की पूर्ण विजय न करले, तब तक रासलीला देखने का वह अधिकारी नहीं होता।

रासलीला के त्रिविध अर्थ

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक।

आध्यात्मिक पक्ष

इस पक्ष में रासलीला गोपियों के अन्तःकरण में नित्य हुआ करती है। इस अर्थ में वृन्दावन को सहस्रदल कमल के रूप में स्वीकार किया गया है। दोनों में साम्य यह है कि जिस प्रकार सहस्रदल कमल की पंखुड़ियाँ झुकी रहती हैं उसी प्रकार वृन्दावन के सभी वृक्षों का अधोमुखी भाव रहता है। समष्टि और व्यष्टि का अभेद मानकर शरीर में सहस्रदल कमल पर पुरुष का और मूलाधार मे शक्ति या प्रकृति का वास माना जाता है। साधनावश दोनों का सामरस्य या नित्य शृंगार ही 'रास' है। इस प्रकार राधा प्रकृति या कुण्डलिनी, कृष्ण पुरुष, सहस्रदल वृन्दावन, गोपियाँ अन्तःकरण की वृत्तियाँ, मुरली अनाहतनाद, तथा नाद श्रवण से विषय वैमुख्यपूर्वक आत्मानुमुख्य की संगति लगाई जा सकती है। इस आध्यात्मिक अर्थ में योगी के अन्तः में नित्य रासलीला का विहार होता रहता है। इस व्याख्या को योगमार्गी कहा जा सकता है।

रासलीला की लाक्षणिक व्याख्या करते हुए करपात्रीजी ने श्रीकृष्ण को तत्पदार्थ और गोपांगनाओं को त्वं पदार्थ स्वीकार कर उनकी पारस्परिक क्रीडा को ही रास माना है। इसके मतानुसार मूलतः दोनों ही कृष्ण एवं गोपांगनाएँ सच्चिदानन्दमय हैं। इस तरह की व्याख्या ज्ञानमार्ग की ही समझनी चाहिए।

आत्मपरक अर्थ का और भी पल्लवन तथा उपबृंहण मुन्शीराम शर्मा ने किया है और विजयेन्द्र स्नातक ने उसका सारांश निम्नलिखित रूप में किया है—'गो का अर्थ है—इन्द्रिय। अतः गोप या गोपी का अर्थ हुआ : इन्द्रियों की रक्षा करने वाला। कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं जो वंशी ध्वनि से, संगीत आदि स्वरों से गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एकमत, एक प्राण होकर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं वैसे ही गोपियाँ वंशी ध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात् रासलीला का नृत्य आता है जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्ण सामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता

है। अतः पूर्णमानवता की दशा नहीं आ पाती। आत्मप्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे ही कृष्णरूपी आत्मज्योति अन्तर्हित है, आत्म-मग्न होने की अन्तःप्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य प्राप्ति के लिए इसीलिए आवश्यक मानी गयी है। अहंकार के नष्ट होते ही, पार्थक्य के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते है, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं, गोपियाँ कृष्ण के साथ रास रचने लगती है। यही है आत्मा का पूर्णानन्द मे लीन होना।

'रासलीला का एक आध्यात्मिक अर्थ यह भी किया जाता है कि भगवान की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। भागवत पुरान में कहा है कि जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब को दर्पण मणि आदि में देखकर क्रीड़ा करता है वैसे भगवान् रमापति ने हास्य-आलिंगनादि द्वारा ब्रज सुन्दरियों के साथ खेल किया। भगवान् ने आत्माराम होकर भी अपने अनेक रूप धारण करके प्रत्येक गोपी के साथ पृथक्-पृथक् रहकर क्रीड़ा की।'

श्रीमोतीलाल शर्मा की धारणा है कि 'गच्छतीतिगौः' व्युत्पत्ति के अनुसार सौम्यप्राण पारमेष्ठ्य गौतत्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। इसी गति प्रधान गौतत्व के सचार से इस लोक को गोष्ठान कहा जाता है। इसी गोष्ठान को सामवेद के अनुसार गोसव सज्ञा है और पौराणिक परम्परा मे गोलोक नाम है। गत्यर्थक व्रजधातु के सम्बन्ध से ही इसे व्रजधाम कहा गया है व्रजधाम मे अंगिरा तथा भृगुधारा प्रवाहित होती है। जिनके द्वारा क्रमशः शब्द तथा अर्थ की सृष्टि होती है। दोनों धाराएँ क्रमश सरस्वती तथा आम्भृणी कहलाती है। आम्भृणी ही पौराणिक धारा मे राधा मे कहलाती है—इनके अतिरिक्त मौर चक्र तथा परमाणु चक्र की भी रासपरक व्याख्या की गयी है।

आधिदैविक पक्ष

डॉ. रसिक विहारी जोशी के अनुसार देवी भागवत पुराण में हमे रासलीला का आधिदैविक स्वरूप प्राप्त होता है। यह तो स्पष्ट है कि कृष्ण परब्रह्म परमात्मा ही है और उनकी अपनी चित्स्वरूपिणी शक्ति के साथ विहार ही रास है। महाप्रलय के पश्चात् जब पुन सृष्टि का काल आता है तो सृष्टि करने के लिए उद्यत एकाकी श्रीकृष्ण अपनी चित्शक्ति का अवलंब करके सृष्टि करते है। सृष्टि के लिए रास की भावना का उदय होते ही श्रीकृष्ण के दो रूप बन जाते है। वाम भाग स्त्री रूप हो जाती है और दक्षिणभाग पुरुष कहलाता है। इसी प्रकृति के सा। रासेश रासमण्डल में लीला करते है। इस प्रकार आधिदैविक अर्थ मे रासलीला का आशय सृष्टि के हेतु प्रकृति तथा पुरुष का सम्बन्ध माना है। श्रीकृष्ण के रस राससंयोग से उनकी चित्शक्ति ने सौमन्वन्तर तक गर्भ धारण किया और मूर्णो

की आभा के तुल्य एक दिव्य अण्ड को उत्पन्न किया जो सम्पूर्ण विश्व का आधार हुआ।

आधिभौतिक पक्ष

इस पक्ष से विचार करने पर भागवत में वर्णित लीला के वर्णन की समीक्षा से यह प्रतीत होता है कि इसका प्रधानलक्ष्य कामदेव का दर्पदलन करके इस पर विजय प्राप्ति के साथ अपने पूर्णावतार को प्रमाणित करता था।

प्रयोजन

रास पंचाध्यायी में रास का प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की अन्तः प्रेरणा तथा शारदीय विभावरी का मनोरम वर्णन है। ज्यों ही कृष्ण के मन में रास का संकल्प उदित हुआ कि सारा वन प्रान्तर लहलहा उठा। कृष्ण ने वंशी उठाई और वादन प्रारम्भ किया। वंशीरवाकृष्ट गोपियों का दौड़े हुए आना, कृष्ण का का पातिव्रत्योदेश करना, उनका आर्य पथ तिरस्कार फलतः मण्डलबद्ध नर्तन आरम्भ हुआ। यहाँ शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्ष का विभावादि समस्त व्यापार के साथ वर्णन है। इन सबको पढ़कर साधारण पाठक को भ्रम हो जाता है कि यह लीला काम-प्रेम की शृंगारमयी लीला है? इसका कोई आध्यात्मिक धरातल नहीं है।

आध्यात्मपरक तर्क

(१) वैष्णव भक्तों ने इसकी योजना ज्ञान, योग, भक्ति तथा कर्म मार्ग से की है। शृंगार या काम चेष्टा का आधार उसमें ग्रहीत ही नहीं हुआ।

(२) यहाँ उपास्य काम विजित है। इसीलिए इसके द्वारा काम विजय रूप फल प्राप्ति मानी जाती है।

(३) ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्येतिनिरूप्यते॥
लीला का लक्ष्य ब्रह्मानन्द से उद्धार कर भजनानन्द की प्राप्ति है—
'रास क्रीडाया मनसो रसोद्गमः न तु देहस्य'

(४) क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।
तासां कामस्य संपूर्तिः निष्कामेति तास्तथा।
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम्
कामभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यान्न संशयः—'सुबोधिनी'
यदि वह काम लौकिक होता, तो उससे संसार उत्पन्न होता। यहाँ तो स्वारूपानुभूति ही लक्ष्य है।

(५) यह लीला ८ हृद्रोग का नाशक है भागवत १० ३३।४० में है
विक्रीडित विष्णो श्रद्धा वर्णयेदय

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(६) राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो इसे कामजयीलीला ही कहते है। सनातन गोस्वामी ने रासलीला को ह्लादिनी का विलास कहा है।

(७) रास पंचाध्यायी को निवृत्ति परक कहते हुए श्रीधर स्वामी ने कहा है शृंगाररस कथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं रासपंचाध्यायी।

(८) प्रतीकार्थपरक रासलीला के पक्ष में कामवासना का प्रश्न ही नहीं उठता।

(९) रासलीला के सम्बन्ध में ब्रज के भक्ति सम्प्रदायों में यह प्रचलित है कि ब्रज के गोपों को अपना स्वरूप साक्षात्कार कराने के उद्देश्य से कृष्ण ने यह रास रचा था। भगवत्स्वरूप दर्शन के लिए जो विभिन्न दशाएँ वर्णित की जाती है—रासलीला उनमें छठी दशा है, 'पाँच भूले देह सुधि' तब कहीं 'छठी भावना रास की' प्राप्त होती है।

(१०) राधावल्लभ सम्प्रदाय में—

'नायक तहाँ न नाइका रस करवावत केलि।'

(११) इस रासलीला अथवा श्रीमद्भागवत के वक्ता थे—श्री परमयोगी शुक देव—जो जन्मजात विरक्त थे और श्रोता थे मृत्युभयभीत परीक्षित तथा असंख्य परमहंस श्रेणी के मुनिजन-विरक्त।

(१२) दूसरे श्रीमद्भागवत का दूसरा नाम है—पारमहंसी संहिता।

(१३) ब्रह्मादिजयप्रसूत काम-गर्व का निरसन करने के लिए रासलीला का विधान और कामजय। श्रीधर स्वामी ने रास पचाध्यायी के मंगलाचरण मे लिखा है।' 'ब्रह्मादिजयसंरूढकदर्पदर्पहा'।

(१४) भगवान् ने सात वर्ष की अवस्था में गोवर्धन धारण किया था और आठ वर्ष की अवस्था में रासलीला की। फिर आठ वर्ष वाले बालक में काम वासना कहाँ से आ जायगी?

भगवान् रमण काल में 'आत्माराम' दर्शन दानकाल में 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' और रासलीला काल में 'योगेश्वर' कहे गये है। यदि उनकी रासलीला काम-वासना प्रेरित होती, तो वे कामेश्वर अथवा भोगेश्वर होते। इनका रमण तो वैसा ही है जैसे कि एक बालक जल अथवा दर्पण में पड़े हुए अपने ही प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करता है।

सूर की रासलीला

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्व दिया है, परन्तु व्यवहार क्षेत्र में वे बंगीय वैष्णव शाखा से भी प्रभावित जान पड़ते है—तभी तो

जब मोहन मुरली अधर धरी ।

गृह व्यवहार थके आरजपथ तजत न संक करी । —सूर सा० १२७७

आर्य पथ का त्याग गोपिकाओं को परकीया मानने पर ही सम्भव है । वास्तव में यह परकीया भाव व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्ता का है—वास्तव में उनका प्रेम परमार्थिक दृष्टि से स्वकीया का ही है । तभी तो

'हम जाने केवल तुमही को और वृथा संसार'

इसी रास के बीच सूर ने राधा कृष्ण का विवाह कराया है । इस प्रसंग के समावेश से सूर ने राधा का परकीया भाव स्पष्ट रूप से निराकृत कर दिया है। विवाह—गन्धर्वविवाह—के बाद फिर रासलीला प्रारम्भ होती है । सूर ने कहा भी है—

जाकौ व्यास बरनत रास ।

है गन्धर्व विवाह, चित्त दै सुनौ विविध विलास ।

सूर की भाव साधना

साहित्य के क्षेत्र में 'भक्ति' एक 'भाव' के रूप में ही स्वीकृत है । मम्मट, जगन्नाथ आदि सभी भक्ति को 'भाव' के ही अन्तर्गत मानते हैं । पण्डित राज तो शान्त में उसका अन्तर्भाव नहीं मानते, विरोध करते हैं । कहते हैं कि वैराग्यात्मक निर्वेद जिस शान्त का स्थायी भाव हो, उसमें रागात्मक भक्ति का अन्तर्भाव किस तरह सम्भव है ? हाँ, 'समस्त तृष्णाक्षयसुखात्मा शमः' मानने वाली कश्मीरी आलंकारिकों की धारा में अवश्य विचार किया जा सकता है। एक और आलंकारिक है—'साहित्यसार' के प्रणेता अच्युतराय, उन्होंने कहा है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' से 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' तक के गीता वाक्यों के परिशीलन से नितान्त स्पष्ट है कि मुख्य भक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं । विद्यारण्य स्वामी ने भी 'जीवन्मुक्ति विवेक' में कहा है—'जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते'—जीवन्मुक्त विष्णुभक्त है । इस दृष्टि से भी विचार करते हुए म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने भक्ति को यथा-कथञ्चित् शान्तरस मे अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया है अर्थात् अलंकारशास्त्र में मुख्यभक्ति शान्तरस के अन्तर्गत तथा गौण भक्ति भावमात्र है । साहित्यसार का टीकाकार कहता है कि भक्ति मुख्य और गौण दो प्रकार की है, परा और अपरा उसके दो भेद हैं ।

जहाँ तक भक्तों का सम्बन्ध है—प्राकृतराज्य की विचारणा से उनकी विचारणा सर्वथा विपरीत है । जहाँ प्राकृत राज्य में काव्यशास्त्रियों की दृष्टि से 'भक्ति' को 'रस' रूप में एक तो मान्यता नहीं मिली और दूसरी ओर मिली भी तो 'शान्त' में डाल दिया गया वहाँ अप्राकृत राज्य मा में 'भक्ति' को ही एक मात्र रस कहा गया और शान्त को उसका प्रथम सोपान मानकर

उसी में अन्तर्भूत कर लिया गया। साथ ही यह भी कहा गया कि यदि 'रस' है तो 'भक्ति' ही, शृंगारादि तो जड़ता-संभिन्न होने के कारण रसाभास हैं। स्पष्ट है कि इस चिन्तना के आलोक में 'भक्ति' को अजड़ या चिद्रूप माना गया है। इसीलिए उसे पंचम पुरुषार्थ के रूप में घोषित किया गया—मुक्ति की अपेक्षा अधिक महिमाशाली बताया गया।

'भक्ति' या पराभक्ति-फलरूपा या साध्य भक्ति-के उक्त रूप की कल्पना और पल्लवन आगम सम्मत द्वयात्मक अद्वयवाद की चिन्तन धारा में हुआ। इस अद्वयतत्व में चित् और उसकी स्वरूप शक्ति—दो का नित्य सामरस्य है। चित् की इसी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति-विशेष ही 'भक्ति' है। 'भक्ति' अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष का नाम नहीं है, माया या महामाया की वृत्ति विशेष नहीं है—साक्षात् चिदानन्दमयब्रह्म की आनन्दमयी स्वरूप शक्ति की वृत्ति का ही नाम परमभक्ति है। मधुसूदन सरस्वती ने जो भगवदाकाराकारित अन्तः-करण की वृत्ति का नाम भक्ति या पराभक्ति कहा, वह उसकी प्रकाशिका या अभिव्यंजिका होने के कारण। वह इसी अन्तःकरण की वृत्ति का सहारा लेकर व्यक्त होती है। स्वयम् चिन्मय ब्रह्म भी अपने आनंदमय स्वरूप का आस्वाद अपनी इसी ह्लादिनी स्वरूप शक्तिरूपा राधा के सहारे करता है। 'भक्ति' के लिए 'दो' की आवश्यकता है—जो यह मानते हैं कि दो होने से मिथ्या हो जायगा, वे सत्य के एक पक्ष को ही देखते हैं।

निष्कर्ष यह कि ह्लादिनी शक्ति की वृत्तिरूपा शक्ति-विशेष ही भक्ति है। यह सच्चिदानन्दमय की स्वरूपभूता सच्चिदानन्दमयी शक्ति ही स्वरूप शक्ति है और संधिनी, संवित् तथा ह्लादिनी इसी की तीन वृत्तियों के नाम है। भगवान के आस्वा-दन का एक मात्र उनकी यही स्वरूपभूता शक्ति माध्यम है—भक्तों की तो बात छोड़िए, स्वयम् भगवान् भी इसी के सहारे आत्मास्वादन करते हैं। इसी आशय से गीताकार पुरुषोत्तम ने कहा—

'भक्त्या मामभिजानाति'

जिस प्रकार चित्त-वृत्ति-निरोधपूर्वक स्वरूपावस्थान को ही योग कहा जाना चाहिए, पर उसके साधन होने से योगांगों का भी योग कह दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार 'भक्ति' के नवधा साधनों को भी 'भक्ति' कह दिया जाता है—उसे साधन भक्ति कहते हैं। यह साधन कर्म है, भक्ति या भाव नहीं, कारण वह अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ता द्वारा सम्पाद्य होता है। साधन या वैधी भक्ति के फलस्वरूप जब स्वरूपोपलब्धि हो जाती है—तब अज्ञान मूलक अहंकार भी विगलित हो जाता है। अहंकार के विगलित हो जाने से तन्मूलक कर्तृत्वा-भिमान भी जाता रहता है—वहाँ साधक तत्वतः कर्म करता हुआ भी अकर्ता

हो जाता है—तब उसकी साधना 'कर्म' रूपा नहीं, भाव रूपा हो जाती है—भक्ति इसी भाव दशा का नाम है। यह साधन से भी हो सकती है, परमात्मा के अनुग्रह से भी हो सकती है। यह 'भाव' भी वास्तव में पराभक्ति की रश्मि है—बिम्ब स्थानीय घनीभूत रूप का नाम है—प्रेमा भक्ति।

'भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते'

इसी घनीभूत भाव को प्रेम कहें, महाभाव कहें, राधाभाव कहें, ह्लादिनी वृत्ति विशेष कहें—कह सकते हैं।

अप्राकृत राज्य में 'भक्ति' का यह स्वरूप है। भावराज्य में प्रवेश करने के लिए चाहे द्वैतवादी हों, अद्वैतवादी हों—कोई हों—विद्या से अविद्या की निवृत्ति करनी ही होगी—अन्यथा अहंकार मूलक कर्तृत्वाभिमान जा ही नहीं सकता। तत्वबोध या स्वरूपसाक्षात्कार के अनन्तर ही द्रवशील स्वारसिक भक्तों के अंतस् में 'भाव' का उदय होता है। भक्त आचार्यों ने इस अविद्या निवृत्तिमूलक तत्वबोध की पीठिका पर भक्ति के प्रथम सोपान 'शान्त' की स्थिति मानी है। शान्त के बाद क्रमशः दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य के सोपान हैं। शान्तभक्ति भक्ति की एक स्फुरण अवस्था मात्र है—किंचित् विकसित होते ही उस पर दास्य भाव का रंग चढ़ जाता है। शान्त का बीज है—निष्ठा, दास्य का सेवा, सख्य का असंकोच, वत्सल का लालन और माधुर्य का आत्मसमर्पण। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि पूर्व-पूर्व भाव के गुण उत्तर-उत्तर के भावों में सदा अनुवृत्त रहते हैं। मतलब यह कि एक बार जो दास्य का रंग चढ़ा, तो अन्त तक निवृत्त नहीं होता। ऐसे ही निष्ठा, सेवा, असंकोच लालन के साथ-साथ माधुर्य-भाव में आत्मसमर्पण की स्थिति रहती है। अभिप्राय यह कि भक्ति की परिणत दशा माधुर्य ही है—प्रेम ही है। यहाँ प्रेम और काम में कोई अन्तर नहीं है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्' इसीलिए जब सूरदास शृंगार का संयोगपक्ष वाणी के माध्यम से छलकाने लगते हैं तब यहाँ प्रेमदशा और कामदशा का अन्तर मिट जाता है। अप्राकृत भूमि के आचार्य भ्रान्त प्राकृतों को समझाते हैं—

'क्रिया सर्वाऽपि सैवात्र परं कामो न विद्यते'

क्रियाएँ यहाँ वे ही सभी वर्णित हो सकती हैं, पर प्राकृतकाम की यहाँ गंध नहीं है। प्राकृत काम राज्य की मनोभूमिका से उत्तीर्ण होने पर ही 'माधुर्य' राज्य का द्वार उद्घाटित होता है। स्वामी हरिदास के लिए कहा जाता है न कि पहनते थे वे टाट, रखते थे पानी पीने के लिए करवा—पर शृंगार का इतना घोर रूप वर्णित करते हैं कि प्राकृतसभ्य समाज में इसे पढ़ा नहीं जा सकता। सूर का ही एक पद देखें—

नीवी ललित गही जदुराइ
जबहिं सरोज धर्यो श्रीफल पर तब जसुमति गई आइ।

— — —

राखहिं वियहिं कुचहिं बिच आनि। दै अधरामृत सिर पर मानि इत्यादि। रसोपासक सूर का कहना है—

नीरस कवि न कहैं रस रीति।
रसिकहिं रसलीला पर प्रीति।

इस सन्दर्भ में समस्या यह खड़ी होती है कि सूर की मुख्य भावसाधना किस सोपान की थी? सूर के चिंतकों और अनुसन्धाताओं ने कई तरह के पक्ष रखे हैं—कोई उन्हें वात्सल्य भाव का साधक मानता है, कोई सख्य भाव का और कोई कान्ताभाव या गोपीभाव का। अपने-अपने पक्ष का सभी समर्थन करते हैं। वात्सल्य पक्ष वालों का तर्क है कि महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय में उपासकों के बीच बालकृष्ण की उपासना ही प्रचारित की है। सूर का वात्सल्य प्रवाह अदम्य है भी इसीलिए। सख्य भाववालों का कहना है कि सूर की उपासना सख्य भाव की है—इसीलिए उनमें 'असंकोच' पूर्वक सब कुछ कह देने की क्षमता दिखायी पड़ती है। दास्यभाव के उपासक तुलसी में संकोच है—अतः मुक्तभाव से वे स्वामी का शृंगार वर्णन नहीं कर पाते। कोई-कोई सूर को उद्धव का अवतार बताकर भी सख्यभाव की पुष्टि करते हैं। अष्टछाप अष्टसखा के प्रतिनिधि माने जाते हैं—इस दृष्टि से भी सूर में सख्य की पुष्टि हो जाती है। सखा चूँकि चतुर्विध है—इसलिए बड़े सखा में वात्सल्य भी उमड़ सकता है और असंकोच वश वे सहचर होने से शृंगार का भी उद्दाम वर्णन कर सकते हैं। सूर के सख्य भावापन्न होने की प्रसिद्धि है ही। इस प्रकार सख्य भाव वाले अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। माधुर्य के विरोध में उनका कहना है कि यह सब चैतन्य का प्रभाव है।

डा. हरवंशलाल शर्मा का विचार है—'जब कृष्ण के प्रति भक्त का तद्विषयक रति भाव सान्द्र हो जाता है—तब उसे प्रेम कहते हैं। अष्टछाप के कवियों में प्रेमपक्ष में सख्य और वात्सल्य भाव को ही विशेष रूप से अपनाया है। सूरसागर में बाल लीलाएँ, गोचारण लीलाएँ और सुदामा दारिद्र्य विदारण—ये तीनों स्थल सख्य भक्ति के हैं। अन्यत्र कहते हैं—'यदि देखा जाय तो वात्सल्य ही भक्ति का सर्वशुद्ध भाव है।' दूसरी जगह वे ही कहते हैं—'सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव हम राधा में देखते हैं। आत्मसमर्पण और अनन्य भाव मधुराभक्ति के लिए आवश्यक है जो सूरदास की दानलीला, चीर-हरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। सूर की प्रेमा भक्ति में यह माधुर्य भाव ही निहित है। (सूरदास)

इतना तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी स्वीकार करते हैं कि आचार्य वल्लभ ने भक्ति की साधना के लिए 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर केवल 'प्रेम' लिया। प्रेमलक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की। अपनी इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने चौरासी 'वैष्णवों की वार्ता' से एक उद्धरण दिया है—प्रसंग सूर की वार्ता का है।

'श्री आचार्य महाप्रभु के मार्ग को कहा स्वरूप है? माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़स्नेह की तो परमकाष्ठा है। स्नेह आगे भगवान को रहत नाहीं, ताते भगवान् वेर, वेर माहात्म्य जनावत है। इनको स्नेह परमकाष्ठापन्न है—ताही समय तो माहात्म्य रहे, पीछे विस्मृत होय जाय।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इन्होंने प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा को आनुषंगिक माना है। उनका ख्याल है कि श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का वर्णन विशेष रूप से होने से भक्ति-क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का माधुर्यभाव का रास्ता खुला' (सूरदास) पर इसी पुस्तक के परिशिष्ट में लिखा है—"वात्सल्य की प्रधानता"। अन्यत्र इसी कृति में शुक्लजी ने लिखा है—'तुलसी की उपासना सेव्य सेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्यभाव से। यहाँ तक कि भक्तों में सूरदासजी श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार कहे जाते हैं।' लेकिन वही शुक्लजी यह भी कहते हैं कि वात्सल्य तथा शृंगार का 'असंकोच' के साथ वर्णन करना ही यदि 'सख्यभाव' का प्रमाण माना जाय, तो कालिदास के पार्वती सम्भोग वर्णन में भी क्या सख्य भाव माना जा सकता है? क्या कालिदास शंकर के सख्य भावोपासक हुए? असल में शुक्लजी अन्ततः इस निष्कर्ष पर आये कि साम्प्रदायिक परि-भाषाओं के चक्कर में आलोचक को अपनी साहित्यिक दृष्टि नहीं खो देनी चाहिए। स्पष्ट ही शुक्ल जी कह रहे हैं कि यदि साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो कलाकार कवि अनुभूतिसापेक्ष कल्पना के सहारे आश्रयात्मा मूल पात्र से तादात्म्यापन्न होकर अपनी कलात्मक क्षमता का प्रकाशन करता है। इस प्रकार शुक्लजी ने साम्प्रदायिक विवाद ही समाप्त कर दिया और साहित्यिक भूमि पर उतर आये। साहित्यिक तादात्म्यापन्न होकर सभी भावों का प्रकाशन कर सकता है।

श्री यज्ञदत्त शर्मा ने अपने 'सूर साहित्य और सिद्धान्त' में भी इसी तरह की अनिर्णीत बातें की हैं—'सूर की भक्तिभावना के प्रधान क्षेत्र वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्ति रहे हैं। महाप्रभुवल्लभ ने वात्सल्य भक्ति को ही अपने सिद्धान्तों में प्रधानता दी है। श्री नाथजी के नवनीत प्रिय के रूप में कल्पना उनकी इसी भावना की पुष्टि है'—'यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो महाकवि सूर ने समस्त सागर की रचना सख्य भाव से की है।' पुष्टि मार्गी भक्त स्वयम् गोपी नहीं बनता और न ही गोपी बनकर वह कृष्ण को रिझाने का प्रयास

करता है। भक्त और कवि इस मिलन और वियोग को तटस्थ होकर देखते है और उसी से प्रभावित होकर उनके हृदय में भगवान् की भक्ति का उदय होता है। यह तटस्थ भक्ति भावना पुष्टि मार्ग की विशेषता है।

डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा के विचार इस प्रकार हैं—"पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के बाद सूरदास ने 'शान्ति' और 'प्रीति' रति के स्थान पर अपने इष्टदेव के प्रति और अधिक आत्मीयता का भाव अपनाया और श्रीकृष्ण के ब्रज के सम्बन्धों—(नन्द यशोदा का वात्सल्य, बालसखाओ का सौहार्द तथा गोपियो का कान्ता भाव) के द्वारा अपनी प्रेम भक्ति को प्रकट किया। भक्ति रति मे इन्हें अनुकम्पा, प्रेम और कान्तारति कहते है। (वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य भाव को भक्ति कहते हैं।) सूरदास ने रति के इन तीनों रूपों को अत्यन्त तन्मयता और व्यक्तिगत अनुभूति की अपूर्व उत्कटता के साथ चित्रित किया है। भावानुभूति की गहनता और विस्तृति के विचार से कान्ता या मधुर भाव में सबसे अधिक आत्मीयता और निकटता समझी जाती है। वस्तुत: प्रेम भक्ति मे कोई एक भाव दूसरे से श्रेष्ठ या भिन्न नहीं कहा जा सकता, यह तो भक्त के स्वभाव पर निर्भर है कि वह किस भाव से अपने इष्टदेव का भजन करे।" कहा जाता है कि अपने इष्टदेव के प्रति सूर का सखा भाव था। अष्टछाप के अष्टसखाओं मे उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। गोस्वामी हरिराय ने भी उन्हें 'कृष्णसखा' तथा निकुंजलीला के मधुर भाव का अनुभव होने के कारण 'चपकलता' सखी कहा है और सखी-सखी के अभेद को विस्तारपूर्वक समझाया है। डॉ. मनोहन गौतम का कहना है—"किन्तु मेरे विचार से सख्यभाव ही प्रधान है। सख्यभक्ति में और भावों की अपेक्षा रसावेग का अवसर अधिक है" (सूर की काव्यकला पृ. ४४)। सम्प्रदाय में सूरदास की भक्तिभावना के सम्बन्ध में जो भी विचार हो, सूरदास के काव्य में सखाओं के प्रेम भाव, यशोदानन्द के वात्सल्य और सखियो तथा राधा के मधुर भाव—सभी की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत तल्लीनता के साथ हुई है तथा उनकी तन्मयता की पराकाष्ठा गोपियों और उससे भी अधिक राधा के भाव मे है। सूरदास के काव्य से प्रेमलक्षणाभक्ति में अनुभूति की उत्कृष्टता के क्रम का अनुमान किया जा सकता है।" (सूरदास जीवन और काव्य का अध्ययन पृ. १३७-३८)। वर्मा जी आगे कहते हैं—"वार्ता के अनुसार गोलोक वास के समय सूरदास की चित्तवृत्ति 'कुमरि राधिका' के उस अनन्य भाव में लीन थी जिससे विवश होकर स्वयम् श्रीकृष्ण उनके प्रति मधुर रति का भाव रखते हैं। उस समय सूरदास के अन्धे नेत्रों की वही अवस्था थी, जिसकी अनुभूति उन्हें एक बार 'सुरति' के अन्त में राधा के नेत्रों के सम्बन्ध मे हुई थी। मधुर भाव सम्मत भक्ति के प्रकाशन में, जिसका उनके काव्य में सर्वाधिक विस्तार है, सूरदास के

इष्टदेव युगल रूप राधाकृष्ण हो जाते हैं। इसके प्रसंग में सूरदास ने कहा— 'दम्पत्ति को शिर नवाता हूँ'। डॉ. वर्मा के इस विस्तृत उद्धरण से सूर की भक्ति का साम्प्रदायिक रूप बड़ी स्पष्टता से उभर आता है।

उक्त उद्धरणों के आलोक में दो पक्ष सामने स्पष्टतः आते है—साम्प्रदायिक और साहित्यिक। साहित्यिक दृष्टि से कलात्मक साधना का और साम्प्रदायिक दृष्टि से आध्यात्मिक भाव साधना का विचार किया जा सकता है। कलात्मक साधना की दृष्टि से सूरसागर में प्रतिबिम्बित विभिन्न भावभूमियाँ कोई समस्या पैदा नही करतीं। कारण, वहाँ मूल आश्रय से कलात्मक क्षमता के सहकार से कलाकार या कवि तादात्म्यापन्न हो जाता है और सब तरह का वर्णन अभिव्यंजन कर सकता है। समस्या खड़ी होती है—साम्प्रदायिक दृष्टि से सूरसाहित्य में लक्षित विभिन्न भावभूमियों में से साधनारूप में गृहीत या साध्यरूप में अनुभूत प्रमुख भावभूमि की। डॉ. वर्मा के अनुसार यह कहना कि यह साधक की रुचि और उसके संस्कार पर निर्भर है कि वह किस भाव का साधक है, काम नही चल सकता। यहाँ पुष्टि सम्प्रदाय तथा सूर साहित्य की पंक्तियों के साक्ष्य पर सूर की प्रमुख भाव-भक्ति का निर्धारण यथासम्भव करना चाहिए।

सर्वप्रथम 'पुष्टि सम्प्रदाय' सम्मत भक्ति प्रस्थान को देखना आवश्यक होगा। सिद्धान्ततः यह ठीक है कि भाव साधना मे साधक की अपनी रुचि और संस्कार की दिशा और गन्तव्य निर्धारित करता है—अध्यात्म यात्रियो के अन्तस् में विशिष्ट स्फुलिंग पूर्वस्थित न हों, तो विकास किसका होगा? जो परमात्मा अपनी अनुग्रह शक्ति जिस पर डालना चाहता है—उसमें विकास का स्फुलिंग भी डालता है—यही साधक का 'स्व' भाव है। नन्द और यशोदा की साधना वात्सल्य की ही होगी—वहाँ कांता भाव की परिणत भूमि कैसे आयगी? वास्तव में जैसी वासना—शुद्ध वासना—जिसमें होगी—परिणत दशा उसी की उसके लिए होगी। इसीलिए ब्रजवासियों की रागभक्ति के प्रसंग में कहा जाता है कि एक ओर वह काम रूपा है और दूसरी ओर सम्बन्ध रूपा। काम रूपा भक्ति माधुर्य के अन्तर्गत है और सम्बन्ध रूपा शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य के अन्तर्गत। प्रेम तत्वतः एक होने पर भी साधक के 'स्व' भावगत वैचित्र्य से जैसे वह भिन्न-भिन्न रूप में आस्वाद्य होता है, वैसे ही कृष्ण रस भी मूलतः एक होने पर भी विभिन्न रूपों मे आस्वाद्य होता है। भक्ति रस के ये पाँच भेद नितान्त स्थूल है—विजातीय भावगत वैचित्र्य की तरह सजातीय भावों में भी अनन्तविध वैचित्र्य होता है और ऐसा न हो—तो एकरसता नहीं आ जायगी। अस्तु।

पुष्टि सम्प्रदाय में जो साध्य है, उसी का अनुग्रह उसमें साधन है।

उसके 'अनुग्रह' के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है—यहाँ 'अनुग्रह' पुष्टि है। सामान्य अनुग्रह से 'मर्यादा भक्ति' और विशेष अनुग्रह से 'पुष्टिभक्ति' या 'रागभक्ति'। इसके चार रूप प्रसिद्ध हैं ही प्रवाह, मर्यादा, पुष्टि तथा शुद्ध। चौथी में प्रेम का प्राधान्य होता है—इसे साधना द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह अत्यन्त दुर्लभ और स्वतन्त्र है—'स्वाधीना पुष्टिरुच्यते'। यहाँ भक्त की इच्छा से भगवल्लीला चलती है। इसके अभाव से भक्त का पूर्ण स्वातन्त्र्य उदित होता है। सिद्ध योगी की भाँति वांछित लीलास्वाद करता रहता है। इसका उदय स्वरूपयोग्यता और अनुग्रह से होता है। स्वरूपयोग्यता विद्या द्वारा अविद्या निवृत्ति, फलतः अक्षर ब्रह्म के ज्ञान से आती है (इसके साथ सहकारी योग्यता भगवदनुग्रह प्राप्त जीवनिष्ठ भगवद्भक्ति है दोनों से ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है) स्वरूप योग्यता और भगवदनुग्रह रूप सहकारी योग्यता से परमप्रेमरूपा स्वाधीना पुष्टिभक्ति का उदय होता है और इसके कारण भगवत्प्राप्ति होती है। इस प्रकार क्रम हुआ—

(१) साधना से अक्षरब्रह्म ज्ञान—स्वरूपयोग्यताधायक पक्ष
(२) भगवदनुग्रहरूप पुष्टि प्राप्ति—सहकारी योग्यताधायक पक्ष
(३) लीलामयभगवत् साक्षात्कार की प्राप्ति।

इस लीलास्वाद के लिए विशिष्ट विग्रह चाहिए—यह विभूतिमय विग्रह सच्चिदानन्दात्मक होता है। इस शरीर की आवश्यकता है। भगवद् वरण से भक्त में परम प्रेमरूपा तीव्र रति का उदय होता है। इस उदय से लेकर भगवान की पूर्ण आविर्भूति तक तीव्र विरह की अनुभूति होती है। इस तीव्र-विरह को सह सकना इसी चिन्मय देह से सम्भव है। वैसे यह विरह रसात्मक और आनन्दमय है। यह विरह 'सर्वोपमर्दी' है और इस दशा में भक्त में 'सर्वात्मभाव' उत्पन्न होता है—विशेषकर विरह दशा में। जहाँ सर्वत्र प्रिय का ही दर्शन होता है। इसी दशा में भाव दृष्टि के समक्ष शुद्ध तत्वमय अक्षरात्मक व्यापी वैकुण्ठ का उदय होता है जिसे इष्ट का धाम कहा जाता है। इसी धाम में लीलामय भगवत दर्शन भक्त की चरम फलभूमि है।

इस प्रकार अक्षरब्रह्मज्ञान साधन, भगवदनुग्रह सहकारी, ब्रह्म फल, भक्त भोक्ता और लीलामय ब्रह्मस्वादन भोग-सम्पन्न होता है। भगवदावेश जीव और ब्रह्म भेद विगलित कर देता है। इस कृष्णरस में सर्वरसमयता है, पर सर्वश्रेष्ठ शृंगार ही है जिसका आस्वाद गोपियाँ रास में करती हैं। यह कृष्ण रस भी वल्लभ मत में द्विविध है—धर्मसहित और केवल। पहले का सम्भोग से और दूसरे का नाट्य में साक्षात्कार होता है।

'स्वाधीना' परम प्रेमरूपाशुद्ध पुष्टि, जिसके शान्त, दास्यादि अनेक रूप

हैं—के दृष्टान्त गोपीजन है। यही कारण है कि उन्हीं को पुष्टि मे गुरु मानकर आचार्य वल्लभ ने उनके प्रेमात्मक साधनों को पुष्टि भक्ति का मुख्य साधन माना है। श्री पारीख तथा मीतल ने अपने 'सूर निर्णय' में बड़े आत्म-विश्वास तथा उपपत्ति के साथ कहा है कि पुष्टि भक्ति में बाल, दाम्पत्य और परकीय कान्ताभाव की तीनों भावनाओं का ग्रहण किया गया है। श्री वल्लभ ने परिवृढाष्टक में स्पष्ट कहा है—

'रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्री परिवृढे'

राधासहचर कृष्ण मे उनकी रति निरन्तर वर्द्धमान रहे—ऐसी कामना आचार्य जी की है। भक्ति मार्गीय संन्यास का पर्यवसान चूंकि वे 'रासलीला' मे ही मानते हैं—अत: पुष्टिपुष्ट स्वरूप गोपांगनाओं को ही अधिकारी मानते हैं। सुबोधिनी में तो उन्होंने समग्र रति शास्त्र ही उलट दिया है। निष्कर्ष यह कि आचार्य जी की आस्था माधुर्य में है। जो लोग अष्टछाप के माधुर्यभाव पर अन्यदीप प्रभाव की सम्भावना करते हैं—उसका यहाँ सप्रमाण खण्डन है। मर्मज्ञों की सुस्पष्ट धारणा है कि अष्टछाप या सूर में प्रतिबिम्बित माधुर्य भागवत धारा ही है—चैतन्यादि भिन्न धाराओं का नहीं। माधुर्य भक्ति की मुख्य पात्र श्री राधा हैं—वे परब्रह्म की आत्मशक्ति हैं—इसीलिए ये दोनो अभिन्न और एक ही हैं। निष्कर्ष यह कि सूरदास द्वारा किया गया राधाविषयक माधुर्य भाव का वर्णन पुष्टि सम्प्रदाय की भावना के अनुकूल है।

इस सबसे यह स्थिर हुआ कि पुष्टि सम्प्रदाय में भी माधुर्य भाव की साधना स्वीकृत है। समस्या यह है कि सूर की भावना बालभाव, सख्यभाव या माधुर्यभाव की है? इतना तो स्पष्ट है कि सूरसागर का रस 'महारस' है, कृष्णरस है।

सूरस्याम को रूप महारस जाकै वह कम्हू न घटै (२२५४ प. स.)

यह महारस 'प्रेमरस' ही है और इसी के अन्तर्गत विरह भी रस रूप ही है।

सुनहु सूर प्यारी हृदय रस विरह उपाऊ (२७६३ पद)

यह विरह प्रेम में परिपक्वता लाता है—'ऊधो, विरहो प्रेम करै' पद ४६०४ यह महारस मधुर रस ही है—इसमें ज्ञान और काम घुलकर एकाकार हो जाते है। इन सब विवेचनाओं, सम्प्रदाय सम्मत सिद्धान्तों और उद्धरणों के साक्ष्य पर स्पष्ट है—

(क) सम्प्रदाय की दृष्टि से उनकी भक्ति कान्ताभाव या मधुराभाव की है। वात्सल्य, सख्य सभी उसमें अन्तर्मुक्त है।

(ख) साहित्यिक दृष्टि से वर्णना या व्यंजना (पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित

होने से पूर्व) शान्त तथा दास्य के साथ (पश्चात्) वात्सल्य, सख्य तथा कान्ता-भाव सभी की उपलब्ध है।

समाज की दृष्टि से 'भक्ति' में विकृति न आ सके, फलतः बालभाव की उपासना ही समर्थित भी है। अन्तरंग और सत्पात्र भक्तों के लिए उसकी शुद्ध-वासना और 'स्व' भाव के अनुसार किसी भी भाव की उपासना हो सकती है। सूरदास में राधाभाव तक की उपासना का समर्थन हरिरायकृत 'भाव प्रकाशन' से पुष्ट होता है यों प्रसिद्धि के आधार पर सख्यभाव की बात कही जा सकती है। बड़े सखा में 'वात्सल्य' की बात भी आ जाती है और नित्य विहार मे 'असंकोच' पूर्वक भाग लेने के कारण आश्रय से तादात्म्यापन्न होकर नाट्यद्रष्टा की भाँति शृंगार की भी उपासना हो सकती है। दृष्टि भेद से यह विभिन्न सम्भावनाएँ लक्षित होती हैं।

सूर का हृदय-पक्ष—भाव-व्यंजना

सूरदास की रचनाओं की स्थिति पर विचार किया जा चुका है और सामान्यतः सूरसागर, सूरसारावली तथा साहित्यलहरी—ही इनकी प्रामाणिक कृतियों के रूप में स्वीकृत हैं। इनका वर्ण्य विषय भी सामान्यतः निरूपित किया जा चुका है। इस प्रसंग में इतना स्पष्ट है कि उक्त तीनों कृतियों के मूल में कृष्ण विषयक रति ही—भक्ति ही प्रेरक भावभूमि है। जहाँ तक 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' का सम्बन्ध है, कहा जाता है कि सूरदास को आचार्य वल्लभ ने 'तत्त्व' और 'लीलाभेद' बताया था वहाँ 'तत्त्व' से आशय 'दशधाभक्ति' और 'लीलाभेद' से आशय 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के सुनने से ज्ञात भागवतलीला का प्रसार और रहस्य है। दीक्षा के अनन्तर 'भागवतीलीला' का गान सूर ने दो रूपों में किया—एक तो कथात्मक रूप से और दूसरे सिद्धान्तात्मक सर्ग-विसर्गादि दशविध लीलाओं के सार रूप से। पहले का क्रियान्वित रूप 'सूर-सागर' है और दूसरे का 'सूरसारावली'। सूरसागर के भी दो रूपों—द्वादश-स्कन्धात्मक और संग्रहात्मक—की उपलब्धि होती है। सूर के मर्मज्ञों में इस बात का विवाद है कि किसे प्रामाणिक माना जाय? पं. जवाहरलाल चतुर्वेदी तथा श्री गोवर्द्धननाथ शुक्ल की धारणा है कि संग्रहात्मक लीला ज्ञान ही युक्तिसगत लगता है जबकि अन्य लोग 'द्वादशस्कन्धात्मक' का समर्थन करते हैं। शुक्लजी ही औसर+अनौसर=द्वादशास्कन्धात्मक सूरसागर की बात करते हैं। डॉ. मनमोहन गौतम की धारणा है कि आचार्य जी के सन्निधान में तो उनकी चेतना 'लीलागान' पर ही थी—जो संग्रहात्मक रूप में मिलता है, पर 'सूर-सागर' में ही इक्कीस स्थलों पर इस बात का संकेत मिलता है—

'सुक-नृप सों कह्यो जा परकार ।
सूर कह्यो ताही अनुसार ॥'

अर्थात् सूर ने द्वादशस्कन्धात्मक भागवत के अनुसार ही 'सूरसागर' का निर्माण किया, पर आचार्य की प्रेरणा से ऐसा किया—इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अस्तु, द्वादशस्कन्धात्मक सूरसागर अस्तित्व में चाहे जैसे आया हो, है सूरकृत ही—इस पर मतभेद नहीं है—ऐसा तो नहीं, पर कम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण विषयक रतिभाव का गान 'सूरसागर' में मुख्यतः किया गया है। उसमें निहित रस-प्रवाह में बाधा न हो, अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्त अनुद्रिक्त रहे—उनका उद्रेक 'सूरसारावली' में हुआ। इसी प्रकार साहित्यशास्त्र का वह ढाँचा, जिस पर रसाभिव्यक्ति की गयी—'साहित्यलहरी' में स्पष्ट हुआ है। स्पष्ट है कि दार्शनिक और साहित्यिक ग्रन्थियों से रहित निष्प्रतिबन्ध रस प्रवाह 'सागर' में ही संरक्षित है। अतः सूर की भाव-व्यंजना की व्यापकता, गहराई, ऊँचाई, सहृदयता, कलानिपुणता—आदि देखनी हो, तो 'सूरसागर' को ही आधार बनाना उचित होगा। 'सूरसागर' में भी दशमस्कन्ध को—और वहाँ भी उन लीलात्मक अंशों को जिनमें विशुद्ध लीलारस की अभिव्यक्ति है। यों तो 'सागर' भागवतानुसारी है ही, पर डॉ. गो. ना. शुक्ल के अनुसार श्रीधर अंग-भंग, कागासुरवध, पांडे आगमन, शालग्राम प्रसंग, कमल पुष्प प्रसंग, राधाकृष्ण-मिलन, सुखविलास, पनघटलीला, दानलीला, ग्रीष्मलीला, मानलीला, शयन के पद, खण्डिता प्रकरण, सुषमा प्रसंग, वृन्दा प्रसंग, वसंतलीला, यज्ञोपवीत उत्सव, सखीवचन, स्वप्न दर्शन, चंद्रोपालंभ आदि सूर के निजी मौलिक प्रसंग से लगते हैं—... ...तथापि छह प्रसंग ऐसे हैं जिन पर सूर ने विशेष रूप से अपनी कवि-प्रतिभा का गहन परिचय दिया है—१. मुरली, २. रास (राधा विवाह), ३. पनघटलीला, ४. दानलीला, ५. मानलीला, एवं ६. भ्रमरगीत। ये ही वे प्रसंग हैं जिनके कारण सूर 'सूर' कहे जाते हैं। इन छहों लीलाओं का समावेश भगवान् के गुण चतुष्क—१. मुरली माधुरी, २. रासलीला, ३. रूप माधुरी, तथा ४. प्रियाधिक्य—में हो जाता है। पनघटलीला, दानलीला तथा भ्रमरगीत का अन्तर्भाव 'प्रियाधिक्य' में है, शेष स्पष्ट हैं।

सूर की साधनालब्ध भावानुभूति के मुख्य क्षेत्र दो हैं—वात्सल्य तथा श्रृंगार। श्रृंगार के भी दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। ना. प्र. सभा वाले संस्करण के अनुसार लगभग ७०० पदों में 'वात्सल्य' की अभिव्यक्ति है, जिसमें यशोदा का वात्सल्य प्रधान है, गौण रूप से देवकी, रोहिणी और राधा जननी के वात्सल्य का प्रकाशन भी सम्मिलित है।

भगवान् की लीला दो प्रकार की है—अगम और सुगम। सुगम लीला

ऐश्वर्य लीला है और अगम—रसलीला। यशोदा पर ऐश्वर्य लीला का प्रभाव नहीं पड़ता, अन्यथा उनके मातृ सुलभ वात्सल्य का वह प्रवाह रुद्ध हो जाता। चाहे माटी भक्षण का प्रसंग हो अथवा गोवर्द्धन धारण का, कंस प्रेरित दानव-दानवियों का वध हो अथवा कंस के पाले हुए योद्धाओं का सामना—सर्वत्र यशोदा का वात्सल्य अप्रतिहत रहता है। इस वात्सल्य के भी दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग।

वात्सल्य का संयोग पक्ष

ब्रज में नन्द-यशोदा माता-पिता हैं, ग्वाल सखा हैं और गोपियाँ हैं—तत्वतः एक—लीलार्थ बहुरूप। इस लीला परिकर में या तो माता-पिता का वात्सल्य है या सखाओं का सख्य अथवा गोपियों का माधुर्य। इन भावों की लीला का गान प्रातिभ-चक्षु सूरदास करते हैं। इस बाल लीला में बालरूप, बालचेष्टा, बालोचित संस्कार, विविधविध उद्भावित परिस्थितियों के बीच होने वाली आन्तरिक मनोदशा और बहिरंग चेष्टाओं तथा मुद्राओं का न केवल साहित्यिक चित्रण है, अपितु इन लीलाओं अथवा बालसुलभ चेष्टाओं को देखकर माता-पिता के अंतस् में प्रवाहित वात्सल्य के ज्वार-भाटे भी अभिव्यंजित हुए हैं। यह प्रसंग इतना चतुरस्र है कि आलोचकों ने इसे विश्वसाहित्य में अनुपम तथा बेजोड़ घोषित किया है।

श्रीकृष्ण जन्म अथवा उनका प्राकट्य ब्रजमण्डल में महोल्लास का क्षण है—

आजु तो निसान बाजे नन्द जू महर के,
आनन्द मगन नर गोकुल सहर के।
आनन्द भरी जसोदा उमगि अंग न समाति,
आनन्दित भई गोपी गावति पहर के॥

गोकुल के चर-अचर, मानव, मानवेतर, नन्द-यशोदा, गोप-गोपी, परिकर-चाकर, देवगण—सभी उल्लास के महोत्सव में निमग्न हैं। भगवान् कृष्ण के बाल सौन्दर्य का एक चित्र देखिए—

ललन हौं या छवि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागौ इन नैननि रोग बलाइ तुम्हारी।
लट लो लटकनि मोहनि मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनो कमल दल सावक पेखत उड़त मधुप छवि न्यारी।
लोचन ललित कपोलनि काजर, छबि उपजत अधिकारी।
मुख में मुख और रुचिवादति, हँसत देत किलकारी।
अलप दसन कलवल करि बोलति, बुधि नहि परत बिचारी।
विकसत ज्योति अधर-विच, मानौ विधु में विज्जु उजारी।

सुन्दरता को पार न पावति, रूप देखि महतारी।
सूर सिंधु की बूंद गई मिलि मति गति दृष्टि हमारी।

यहाँ वात्सल्य रति का आश्रय माता यशोदा हैं, आलम्बन पुत्र कृष्ण हैं, रूप उद्दीपन है, उक्ति ही अनुभाव है, हर्ष संचारी है—इन सबसे वात्सल्य परिपुष्ट है। अनुभूति के ही ऐसे सघन क्षणों मे रूप वर्णन अनुभाव के रूप में उमड आते हैं और प्रस्तुत गत सौन्दर्य की व्यंजना के लिए अप्रस्तुतों की लड़ी लग जाती है। जो अनडूबा रहता है—उसे पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर जो वर्ण-यिता अथवा ग्रहीता अनुभूति की गहनता और तीव्रता में नहाया रहता है—उसे आवृत्ति या बासीपन का बोध नहीं रहता। आश्रय के साथ एक रस होकर आर्ष कवि कहता है कि यशोदा ही कृष्ण-रूप-सौन्दर्य की थाह नहीं पातीं—सो नहीं, स्वयं वह भी अपनी पृथक् सत्ता का भान नहीं कर पाता। उसकी मति, गति एवं दृष्टि—जो भी पृथक् सत्ता के घटक हैं—रास्ता छोड़ देते हैं और जैसे बूँद—समुद्र से मिलकर अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त कर समुद्र ही बन जाता है—वैसे ही सूर की सत्ता कृष्ण की आनन्दमयी महासत्ता में निमग्न हो गयी। गोपियाँ भी यही बात अन्यत्र कहती हैं—

मैं देख्यौ जसुदा कौ नन्दन खेलत आंगनबारौ री।
× × × ×
जैसे बूंद परत बारिधि मैं, त्यौं गुन ज्ञान हमारौ री॥

[पृ. सं. १४४]

लेकिन इस लीला में एक वैचित्र्य है। बाल को देखकर सर्वत्र वात्सल्य ही उमड़े—यह आवश्यक नहीं। एक गोपिका यशोदा के आँगन में लाला को खेलते हुए देखती है—वर्ष भर के भी नहीं हैं—देखते ही वह लुट जाती है, उसमे कांताभाव उमड़ आता है। उसे लगता है—

हौं उन माँहि कि वै मोहिं महियाँ, परत न देह सँभारौ री।
तरु मैं बीज कि बीज माँह तरु दुहुँ मे एक न न्यारौ री।
जल थल नभ कानन घट भीतर जहँ त्यौं दृष्टि पसारौ री।
तितही तित मेरें नैननि आगैं, निरतत नंद दुलारौ री।
तजी लाज, कुल कानि लोक की पति गुरु जन प्यौसारौ री।
जिनकी सकुच देहरी दुरलभ तिन मैं मूँड उघारौ री।
टोना-टामनि जंत्र मंत्र करि, ध्यावौ देव-दुआरौ री।
सासु ननद घर घर लिए डोलति याको रोग विचारौ री।
कहा कहौं कछु कहत न आवै सब रस लागत खारौ री।
इनहिं स्वाद जौ लुबुध- सूर सोइ- जानत चाखन हारौ री।

गोपियों में 'वाल' को देखकर भी माधुर्यमय कांताभाव ही उभरता है। नन्द यशोदा हैं जिन्हें वात्सल्य आस्वादगोचर होता है, सखागण है—जिन्हे सख्यानुभूति होती है और गोपिकाएँ हैं जिन्हें कांताभाव अनुभूत होता है। सूर इस समग्र लीलारस में डूब-डूब जाते हैं।

यशोदा और नन्द वात्सल्य सिक्त होकर अपनी-अपनी ओर हर्ष विह्वल होकर बुलाते है, कृष्ण 'संशय' की डोला पर झूलते हैं—

इतते नन्द बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावै री।
दंपति होड़ करत आपस में, स्याम खिलौना कीन्हौ री।

माँ पुत्र के लिए तरह-तरह की 'अभिलाषा' में डूबी रहती है—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगे कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दांत दूध के देखौं कब तोतर मुख वचन झरै।
कब नन्दहि बाबा कहि बोलै कब जननी कहि मोहि टेरै।
कब मेरो अचरा गह गोहन जोड सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनकि-तनकि कछु खैहै, अपने कर सो मुखहि भरै॥

माँ को न जाने कितनी मानसिक स्थितियो से गुजरना पड़ा है। कभी चाँद के लिए अड़ जाते हैं, तो कभी दुलहिन माँगते हैं—कभी पालना झुलाने मे स्वयं रस लेती हैं, तो कभी ऐश्वर्य लीला से आश्चर्य चकित होती हैं। कभी तरह-तरह से सजाती हैं तो कभी भाँति-भाँति का पकवान बनाती हैं। कभी इनका उनका आशीर्वाद लेती हैं कि बच्चे को कोई अनिष्ट न हो। कभी कृष्ण पांडे का भोग जुठार देते हैं—तो वे खीझ उठती हैं, कभी साटी लेकर मुँह खोलवाती है, कभी 'क्रुद्ध' या नाराज होकर उलूखल में बाँध देती हैं। कन छेदन में नाई जब कान छेदता है—तो उस पर उनकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और क्रोध से डाँट देती है। 'भय' के मारे घर से बाहर नहीं निकलने देतीं—अनिष्ट निवारण के लिए मनौतियों का अम्बार लगा देती हैं। आँख से ओझल होने पर न जाने क्या अनिष्ट उनके लाल का हो जाय, इसलिए गोचारण के लिए बाहर जाने पर पहले तो 'हाऊ' का भय दिखाकर निवृत्त करना चाहती हैं और न मानने पर सखाओं को समझाती हैं कि वे सब कृष्ण का ध्यान रखें। वन में सखाओं और बलदाऊ से तंग किये जाने पर कृष्ण की शिकायत उन्हें दयार्द्र कर देती है। सखाओं की शिकायत कृष्ण कभी-कभी माँ से करते है। गोपियाँ माखन-चोरी-लीला के प्रसंग से कृष्ण के प्रति उलाहना लेकर यशोदा के पास आती है। यशोदा को उनकी बातों पर विश्वास नही होता और वह जो डाँट बताती हैं कि गोपियों को उलटे पाँव लौटना पड़ता है। वह भोलीभाली वात्सल्यसिक्त

माँ यह नहीं जानती कि उलाहना कृष्ण दर्शन का ब्याज है। माखन-चोरी के अवसरों पर पकड़ जाने पर जो आत्मरक्षा के लिए बहाने बनाते हैं—वहाँ सूर का वैदग्ध्य और उनकी उद्भावना शक्ति दर्शनीय हो जाती है।

वात्सल्य का वियोग पक्ष भी 'सागर' में चित्रित है। यह वियोग अनेक कारणों से सम्भव है, पर होता त्रिविध है—वर्तमान, भूत और भावी। वियोग होने वाला है—यह सोचकर भी अतृप्त रति कष्ट देती है, वियोग होते समय और वियोग हो जाने पर तो कोई बात ही नहीं। अक्रूर के द्वारा कंस ने कृष्ण और बलराम को धनुष यज्ञ देखने के लिए बुलावा भेजा है। अक्रूर ने दोनों को गोद मे उठा लिया और दोनों भाइयों की स्थिति यह हुई—

"बोलत नहीं नेक चितवत नहीं, सुफलक सुत सों पागे"

और इधर सारा नगर-चर, अचर, पशु-प्राणी, गोप-गोपी, माँ-बाप—उद्विग्न हैं।

कृष्ण-बलराम के प्रवासी हो जाने के बाद की क्या हूक उठाने वाला चित्र सूर ने प्रस्तुत किया है, अनुभव गम्य है—

'मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धर्यौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर, नेति गहै।
सूने भवन जसोदा सुत के गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारनि उरहन कोइ न कहै।
जो ब्रज में आनंद हुतो, मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।

कृष्ण के प्रवासी हो जाने के बाद माता यशोदा का घर-बाहर का सूनापन निरन्तर काटता रहता है। दिन-रात जिन आनन्दमयी व्यस्तताओं में बीतता था—वे सब कृष्ण के चले जाने पर शान्त हो गयी हैं। अब प्रात. होते ही कौन माखन के लिए नेति लिए आयेगा। कहाँ कृष्ण की दिन-रात की धमाचौकडी और कहाँ कभी न खतम होने वाली रिक्तता—कितना विपरीत ! स्मृति मे निरन्तर उभरने वाले वात्सल्य संयोग के चित्र दुर्निवार शूल हृदय में पैदा करते थे। कहाँ तो सबेरा हुआ नहीं कि सखागण घर घेर लेते थे, गोपिकाएँ एक के बाद एक ओरहन लेकर आती रहतीं—अब कहीं किसी का गन्ध पता नही। वे भी क्या आनन्द के दिन थे, मुनिगण की भी कल्पना से परे। आज तो गोकुल की यह हालत हो रही है कि कोई इसे कौड़ी की भी न पूछे।

वियोग की मन:स्थिति की बँधी हुई शास्त्रीय संस्थाओं में बाँधना यशोदा की अनवगाह्य वेदना वारिधि को छोटा बनाना है। नन्द यशोदा की स्थिति देखकर कहते हैं—

तब तो मारिबोई करति।

कहो, अब क्यों परेशान हो, तब तो मना करने पर भी मारती रहती थी,

डाँटती रहती थी, लगता था जैसे कृष्ण की हरकतों से सर्वाधिक खिन्न तुम्हीं हो— अब तो उसके और उसकी हरकतों के बिना क्षण काटना तुम्हारे लिए कठिन हो रहा है।

मन अपने किये पर पछता रहा है—इस बार वे लौट कर आ जाते।

मेरे कान्ह कमलदल लोचन।
अबकी बेर बहुरि फिरि आवहु कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा-होत जिय मेरे बैठी देखत रैहौं॥
गाइ चरावन्ह कान्ह कुँवर सो कबहूँ भूलि न कैहौं।
करत अन्याव न बरजौं कबहूँ अरु माखन की चोरी॥
अपनें जियत नैन भरि देखौं हरि हलधर की जोरी।
दिवस चारि मिलि जाहु साँवरे कहियौ यहै संदेशो।
अबकी बेर आनि सुख दीजै, सूर मिटाय अंदेसौ॥

वात्सल्य के संयोग पक्ष में माता का जो हृदय सरोवर आनन्द से उद्वेल हो रहा था, वही वियोग पक्ष में सूखकर भयावह हो रहा है।

पुष्टिमार्ग अनुग्रहैकसाध्य मार्ग है—एकमात्र भगवदनुग्रह से ही रागानुगाभक्ति का आविर्भाव होता है। यह अनुग्रह सर्वात्मना आत्मसमर्पण से होता है—उत्कट प्रेम से होता है। प्रेम की यहाँ तीन अवस्थाएँ हैं— स्नेह, आसक्ति तथा व्यसन। भगवान् के प्रति स्नेह की उत्पत्ति से विषय-विराग होता है। स्नेह जब आसक्ति के रूप में बदल जाता है तब घरबारी व्यापार भी अरुचिकर हो जाते हैं। आसक्ति जब 'व्यसन' में बदल जाती है तब भगवान् में निरायास प्रेम भाव स्थिर हो जाता है। पुष्टिमार्ग में भक्ति सेवामार्ग है और यह सेवा त्रिविध है—वित्तजा, तनुजा तथा मानसी। श्रीकृष्ण की लीलाओं से अपने जीवन क्रम को जोड़ देना और उन्हीं के भजन में मन को भिगोये रखना इस मार्ग की सेवा प्रणाली का मुख्य तत्व है। यह सेवा-प्रणाली दो प्रकार की है—नित्य सेवा और वर्षोत्सव सेवा। नित्य सेवा अष्टयामी — मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या आरती शयन — कही जाती है। वर्षोत्सव सेवा [illegible]धि में षड् ऋतुओं के उत्सव, वैदिक पर्व, अवतार लीलाएँ, जयन्तियाँ आदि हैं। नित्य सेवा वात्सल्य भक्ति की विशेषता है। वस्तुतः भगवत् सेवा के लिए ही पुष्टिभक्तों का आविर्भाव होता है। पुष्टिमार्गी भक्ति या सेवा का फल सभी इन्द्रियों के आस्वाद्य पुरुषोत्तम के स्वरूपभूत आनन्द की प्राप्ति है। म.म. कविराज जी का कहना है कि सालोक्य,

---

टिप्पणी—श्रीकृष्ण के सेव्य आठ रूप हैं—नवनीत प्रिय, मथुरेश (मदनमोहन), श्री विट्ठलनाथ, श्री गोकुलनाथ, श्री द्वारिकाधीश, श्री गोकुल-चन्द्रमाजी, श्री बालकृष्णजी, श्री नाथजी।

सारूप्य एवं सामीप्य चरमावस्था में सायुज्य रूप में परिणत होते है। पर पुष्टिभक्त सायुज्य की आकांक्षा नहीं करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट होने पर भक्ति का विलास सम्भव नहीं होता। सायुज्य ब्रह्मानन्द का ही नामान्तर है। भिन्न रूप में स्थिति के बिना अनुभव-रस स्फुरित नहीं होता, इस कारण पुष्टिभक्त सायुज्य नहीं चाहते। सायुज्य-प्राप्त भक्तों को भी परमानन्द का अनुभव होता ही है—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उन्हें यह अनुभव अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है—इन्द्रिय वर्ग के भोग्य रूप में नहीं। दूसरी ओर नित्य लीला में प्रविष्ट भक्त इस एक परमानन्द का अपने स्वरूप या आत्मस्वरूप में तो अनुभव करते ही हैं, इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा भी उन उनके भोग्य रूप में अनुभव करते हैं। इसीलिए पुष्टिभक्त स्वरूपान्तःपाती सायुज्य नहीं चाहते, उन्हें नित्य लीला में प्रवेश करना ही एकमात्र प्रार्थनीय जान पड़ता है।"

देहजा-वित्तजा सम्पाद्य फलरूपा मानसी सेवा सर्वात्मभाव का ही नामान्तर है। सर्वात्मभाव प्रतिष्ठित होने पर अहंता-ममता रूप संसार निवृत्त हो जाता है। जीव अक्षर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। भगवदनुग्रह रूप सहकारी योग्यता तथा स्वरूप योग्यता सम्पन्न जीव का भगवान् जब अक्षर ब्रह्म से उद्धार करता है तब विरह का सागर फूट पड़ता है—इस दुःख का अनुभव नन्द-यशोदा, गोप-गोपी—सभी गोकुलवासियों को हुआ था। यही दुःख पुष्टिमार्गी भक्तों का काम्य है। आचार्य वल्लभ ने कहा है—

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।

"गोपिकानां च यद् दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्"। सूर में यह साम्प्रदायिक संस्कार गहरे छिपा हुआ है—पर उसकी अभिव्यक्ति इतनी सर्व-संवेद्य भूमि पर है—कि प्राकृत भावभूमि का सहृदय ग्राहक भी उसका आस्वाद ले सकता है। शृंगार का वर्णन करते हुए भी—उन्मुक्त स्तर पर और उन्मुक्त रूप में शृंगार का वर्णन करते हुए भी—उसे 'प्रभु का लीला शृंगार' कहकर उसके 'अप्राकृत' होने का ही संकेत देते हैं। लोग कहते हैं कि पुष्टि मार्ग में 'सोऽहम्' नहीं, 'दासोऽहम्' की भावभूमि है—'तत्त्वदीप' का साक्ष्य भी है, पर साथ ही यह भी कि 'गोपी भाव' से ही श्रीकृष्ण रस का आस्वाद लिया जा सकता है। ऐसा कहते हुए वे लोग 'भावदेह' का रहस्य नहीं जानते। वस्तुतः भावदेह अप्राकृत देह है जिसमें विरह रस फूटता है और इसी देह से भिन्न-भूमि पर श्रीकृष्ण रस को इन्द्रिय वर्ग का भोग्य बनाया जाता है—भक्ति का यही विलास है—जो मुक्ति में प्राप्त नहीं होता। अतएव सूर ने उन्मुक्त शृंगार का वर्णन किया है। 'सूर-

सागर' में कहीं 'दास' बुद्धि कहीं 'अंशबुद्धि' और कहीं 'अनन्यबुद्धि' की तरंगें उपलब्ध होती हैं। इन सब का समन्वयकारी रूप इस श्लोक से होता है—

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशक।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहमिति मे निश्चया मतिः॥

देह की दृष्टि से भक्त दास है, जीवदृष्टि से अंश—पर आत्मदृष्ट्या दोनों मे कोई भेद नहीं है। तत्त्वतः प्रेम एक ही है—जडोन्मुख प्राकृत भूमि पर अधोगत और चिन्मुख अप्राकृत भूमि पर ऊर्ध्व रूप है। दोनों स्तरों की क्रियाओं या अनुभावादि में कोई फर्क नहीं है—फर्क है तो इतना ही कि एकत्र प्राकृत काम है अन्यत्र अप्राकृत काम। दोनों में गुणात्मक अन्तर है—एक गुणात्मक है दूसरा गुणातीत। यह प्रेम का आकाश ऐसा आकाश है जिसमें उड़ने वाला पक्षी पक्ष में निहित शक्ति के आधार से सावधि और निरवधि उड्डयन कर सकता है। 'सूरसागर' का आस्वाद भी अपनी-अपनी वासना-पंखों से प्राकृत-अप्राकृत भूमि के सभी लोग लेते हैं। काव्यात्मक रूप में सहृदय प्राकृत जन भी काव्यानन्द के रूप में आस्वाद ग्रहण कर सकते हैं और लीलारसिक के लिए तो है ही। कारण, इसका स्रोत लीलारस का आस्वाद लेने वाला हृदय ही है। सूरसागर में कहा गया—

'नीरस कवि न कहै रस रीति।
रसिकन को लीला पर प्रीति।'

संभोग शृंगार

शृंगार के दो पक्ष हैं—संयोग या सम्भोग और विप्रयोग। किसी-किसी आचार्य ने 'अयोग शृंगार' जैसे (विवाह पूर्व वियोग) की भी बात की है। 'सयोग' का अर्थ नायक और नायिका का एक देश या एक काल में साथ-साथ रहना मात्र नहीं है। कारण, एक शय्या पर एक ही समय में नायक नायिका रहकर भी ईर्ष्याग्रस्त हो सकते हैं—और वह संयोग नहीं, वियोग की स्थिति मानी जाती है। ठीक यही स्थिति वियोग की भी है। केवल देश-भेद और काल-भेद से स्थिति हो जाने मात्र से वियोग शृंगार नहीं हो जाता। वस्तुतः संयोग या वियोग—ये दोनों अन्तःकरण की वृत्ति विशेष हैं। संयोग के लिए 'मैं संयोग मे हूँ'—यह वृत्ति बनी रहनी आवश्यक है और 'वियोग' में 'मैं वियोग में हूँ' यह। पहली दशा में रति तृप्त रहती है और दूसरी दशा में अतृप्त।

'सूरसागर' में 'संयोग' शृंगार की अनेकविध स्थितियाँ उपलब्ध हैं—कहीं यह नायिकारब्ध है और कहीं नायकारब्ध। कहीं नायक कृष्ण अकेले हैं और कभी गोप सखाओं के साथ। जैसे रासलीला या चीरहरण लीला में अकेले हैं और दानलीला मे गोप सखाओं के साथ। इसी प्रकार संभोग में कभी गोपिकाओं

का समूह उपस्थित है और कभी केवल राधा। अनेक बार मेघाच्छन्न नभोमण्डल तले नन्द द्वारा राधा को सौंपे हुए कृष्ण केलिमग्न लक्षित हुए हैं। संभोग कभी-कभी इतना उन्मुक्त और मांसल हो गया है कि विद्यापति भी झख मारें। चीर-हरण के अवसर पर कृष्ण की यह इच्छा कि गोपिकाएँ उरोजों और गुह्यांगों को बिना ढँके सामने उठ खड़ी हों—अद्‌भुत ही है। अप्राकृत स्तर पर ही यह सब ग्रहण करना होगा। कृष्ण जन्मजात गोपियों की अप्राकृत एवं चिरन्तन या पुरातन रति के आलम्बन हैं। शिशु कृष्ण को गोद में लेकर ये गोपिकाएँ अपना स्तन-मर्दन कराती हैं। माखन चोरी के काज से गोपियों के प्रति कृष्णारब्ध श्रृंगार भी चलता है। गोपियाँ हारभंजन, नखक्षत आदि चेष्टाओं का उपालम्भ लेकर जब यशोदा के पास आती हैं, तब यशोदा को विश्वास ही नहीं होता, उलटे वे उन्हें ही डाँटने लगती हैं। गोपियाँ कहती हैं—

> कान्हहिं वरजति किन नंदरानी
> तुम जो कहति मेरो कन्हैया गंगा कैसो पानी।
> बाहिर तरुन किसोर वयसवर, बार घाट को दानी।
> अजरज महर तुम्हारे आगें, अबै जीभ तुतरानी।

माखन चोरी लीला के अनन्तर 'चीरहरण' लीला का प्रसंग आता है। राधा को जब कामभुजंगम ने डँसा था, तो उस विष का शमन किया गारुड़ी बनकर श्याम ने। राधा का विष तो उतर गया, पर चढ़ गया—गोपकुमारियों के रक्त में। उन्होंने कृष्ण को ही पति के रूप में पाने का संकल्प लिया। भगवान् सूर्य से प्रार्थना की गयी कि कृष्ण उन्हें पतिरूप में प्राप्त हों। यमुना में स्नान करने वाली गोपियों के मध्य जल में ही प्रेमवश कृष्ण का प्राकट्य हो जाता है—संयोग हो जाता है। दोनों ही वांछित भाव का भोग करते हैं। यहीं शारदीयरास का संकल्प होता है।

पनघटलीला सूर की कल्पना है, इसका संकेत भागवत में नहीं है। इसका उपजीव्य लोकजीवन है। पनघट का श्रृंगार ललित और हृदयावर्जक लीलाओं से परिपूर्ण है। यमुना में, जल भरने को गोपिकाएँ जा रही हैं। कृष्ण उनसे तरह-तरह की छेड़खानी करते हैं—सखाओं से भी कराते हैं—पर गोपियाँ यहाँ चीरहरण की भाँति निष्क्रिय नहीं हैं—वे भी कृष्ण की गत बना देती हैं। रूप-चित्रण, वाग्वैदग्ध्य, भावासक्ति की श्रृंगारिक स्थितियाँ कवित्व की दृष्टि से भी अतिउत्तम हैं। यही स्थिति दानलीला की भी है। इसका भी उपजीव्य कोई पुराण नहीं है। गोपियाँ दूध-दधि बेचने मथुरा सजधज कर जाती हैं—रास्ते में ही कृष्ण इनसे कर वसूलते हैं। गोरस दान के काज से उरोज-घट में भरे हुए 'महारस' का दान लेते हैं—गोपियाँ आत्मसमर्पण कर देती हैं।

रासलीला का उपजीव्य चीरहरण की भाँति भागवत अवश्य है। वंशीवादन पर शारदीय राका में गोपियों का आना, कृष्ण का पातिव्रत्योपदेश द्वारा उन्हें लौटने को कहना, फलतः उरोज-गिरि फोड़कर वेदना के आँसुओं के झरनों का फूट पड़ना, दयार्द्र होकर रास-रस में गोपियों के साथ मग्न होना, प्रेमातिरेक देख गोपियों में गर्वोदय, अहन्तानिवारणार्थ कृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपियों का हृदय द्रावक विलाप, पुनः प्राकट्य और रास-रस-निमग्नता के क्रम यहाँ संयोजित किये गये हैं। सूर स्वयम् इस रस में वर्णन करते हुए डूब गये हैं।

सभोग शृंगार के अन्तर्गत दो लीलाएँ और हैं—हिंडोल-लीला तथा फागु-लीला। गोपियों के अनुरोध पर कृष्ण द्वारा यह योजना की गयी है। इसे हम उभयारब्ध शृंगार कह सकते हैं। वसंत ऋतु की अत्यन्त उल्लासमयी लीला है—फागु-लीला—जहाँ अबीर गुलाल उड़ता रहता है, पिचकारियाँ चलती रहती हैं। होली का बड़ा ही आकर्षक चित्रण हुआ है।

शृंगार का रंग और प्रगाढ़ हो जाता है जब कृष्ण के साथ राधा और केवल राधा जुड़ जाती हैं। राधा लीलाकृष्ण की महाभावस्वरूपा, अन्तरंगा, ह्लादिनी नामक निजाशक्ति ही हैं—यह तादात्म्य अन्यत्र सम्भव कहाँ ? भागवत-भक्ति की यह धारा और उसके पीछे निहित अवधारणा भिन्न है और पूर्वांचलीय वैष्णवी भक्ति की धारा में निहित अवधारणा भिन्न। पश्चिमांचल की राधा-कृष्णपरक भक्तिधारा भेदवादी दर्शन के आधार पर राधाकृष्ण को मानवोपरि मानती है और जीवमानव अपनी साधना तथा उनके अनुग्रह से लीलालोक मे प्रवेश पाता है जबकि पूर्वांचल प्रवाह में आगमिक अद्वयवाद के आलोक मे मानवस्वरूप के संघटक शक्ति तथा शक्तिमान् पक्ष के प्रतीक राधा-कृष्ण का मुक्त शृंगारिक उल्लास अनुभव किया जाता है। वहाँ मानव से भिन्न राधा-कृष्ण हैं, भले लीला ही के लिए सही, पर यहाँ मानव-स्वरूप घटक शक्ति-शक्तिमान के प्रतीक हैं राधा और कृष्ण। इसीलिए पूर्वांचल के चण्डीदास मानव से ऊपर किसी की सत्ता नहीं मानते। यह ठीक है कि दोनों पर आगमिक अद्वयवाद का प्रभाव है, पर परवर्ती प्रक्रिया में भेद है। डॉ. एस. सी. मुकर्जी ने *"A Study of Vaisnavism in Ancient and Medieval Bengal"* नाम की पुस्तक में लिखा है—The existence of such an unknown earlier source, different from the Bhagawat, is not to be ruled out, for even during Chaitanya's time when the Bhagawat emotionalism was fully established, there are evidence as to the existence of a different kind of Vaisnava devotionalism, which did not strictly confirm to the Bhagawat ideals" वस्तुतः पूर्वांचल का यह

राधावाद अपना उत्स कहाँ रखता है—यह विवादास्पद न भी हो, तो भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। कुछ लोग इसका उद्भव ११वीं शती में वृन्दावन में मानते हैं। दूसरे इसे और पीछे ले जाते हैं और 'संगमयुग' के तमिल क्लैसिकल साहित्य अथवा आलवार साहित्य से जोड़ते हैं। स्वामी करपात्र जी राधावाद का उत्स वेदों तक में ढूँढ निकालते हैं। सुनीतिबाबू इसका स्रोत बौद्धों के महाउम्मग्गजातक की एक जाम्बवती कथा से (चाण्डालकन्यका) में देखते हैं। अन्य लोगों की धारणा है कि कृष्ण-कथा में गोपियों के साथ प्रेम लीला जैसे शृंगारी तत्वों के समावेश का प्रधान कारण उस आभीर देवता के साथ कृष्ण के एकीकरण में निहित प्रतीत होता है। आभीर जनजाति के यायावर जीवन के कारण यह अनिवार्य था कि उनमें यौन सम्बन्धों की अधिक स्वच्छन्दता हो, अतः उन लोगों ने जिस देवता की कल्पना की, वह यूनानी ग्रामदेवता पैन की तरह तरुण और चंचल था (वैष्णवधर्म का उद्भव और विकास)।

इन सब अनुमानों, कल्पनाओं और ऐतिहासिक निष्पत्तियों के आधार पर सम्भव है कि कोई अध्यात्म के धरातल पर अत्यधिक भावुक और लीलारसिक पूर्वांचलीय वैष्णवी धारा रही हो—जिसका साहित्यिक शिखर जयदेव का गीतगोविन्द हो। जयदेव द्वारा आरब्ध 'पदावली परम्परा का प्रवाह' विद्यापति तक पहुँचा हो—यहाँ तक कि इन धक्कों से परवर्ती कविगण भी प्रभावित होते रहे हों। कहा तो यह भी जाता है कि विद्यापति और चण्डीदास की भेंट हुई थी और इस भेंट के फलस्वरूप चण्डीदास ने वैष्णव भक्तिरस के पद लिखे। कहते हैं कि चैतन्य की समाधि के बाद उनके अनुयायी दो वर्गों में बँट गये—गोस्वामी मत तथा सहजमत। गोस्वामी बन्धु वेद और भागवत को प्रमाण मानता था, जबकि 'सहजमत' एकमात्र 'अनुभूति' को (आध्यात्मिक) प्रमाण मानता था। सहजमत वाले 'विद्यापति' को सात रसिकों में एक मानते थे। यह प्रवाह भागवत प्रवाह से भिन्न था।

यों तो साम्प्रदायिक लोग 'राधा' का अस्तित्व या संकेत वेदों तक में ढूँढ निकालते हैं और 'भागवत' में भी रहस्यात्मक ढंग से उनकी सत्ता मानते हैं। पर आधुनिक अन्वेषियों की इससे सहमति नहीं है। उनका ख्याल है कि 'राधा' का प्राकट्य साहित्य में—आर्यासप्तशती, गाथासप्तशती, पञ्चतन्त्र, ध्वन्यालोक आदि—में पहले हुआ और 'सम्प्रदाय-साहित्य' में बाद में। जो भी हो, इतना अवश्य है कि 'राधा' 'सहजमत-प्रवाह' की भी आराध्या देवी है और भागवतभिन्न प्रवाह का भी। इसीलिए जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास की राधा से सूर की [illegible] में थोड़ा [illegible] है। [illegible]

जयदेव की राधा प्रगल्भा परकीया है, जो सरस वसन्त में उस कृष्ण से मिलने के लिए अधीर है जो 'प्रचुरपुरन्दर धनुरनुरंजित मेदुरमदिर सुवेश' है, जो अनेक गोपिकाओं से मुक्तविहार करता हुआ 'गूढ़विप्रियकारी शठ' है, इसीलिए चाटूक्तियों से लज्जावनत राधा को अनुकूल कर लेता है। विद्यापति की राधा मुग्धा है, वयः सन्धि में है। रास्ते में जाते हुए वे दोनों एक-दूसरे को देखते हैं। देखते ही दोनों के हृदय में कामभाव संचरित होता। यह संचार यहाँ तक बढ़ता है कि 'दुहुँ मुख हेरइत दुहूँ भेल भोर'—दोनों एक-दूसरे की मुख-सौन्दर्य-सुधा का पानकर बेसुध हो जाते हैं। रूपाश्रित सौन्दर्य से काम और कामभावना से रूपाश्रित सौन्दर्य उत्तरोत्तर गहराते चले जाते हैं—तभी तो 'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल' की स्थिति है। चण्डीदास की राधा विह्वल प्रेम की प्रतिमूर्ति है। रूप नहीं, श्याम का नाम सुनते ही वह पागल हो उठती है—

जपिते जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइव सइ तारे

वही स्थिति कृष्ण की भी। उनका भाव भी उन्हें राधाद्वैतभाव तक पहुँचा देता है—

गृह माझे राधा, कानन ते राधा, सकले राधार देखि
शयने भोजने गमने राधिका राधिका सदाइ मति।

अभिप्राय यह है कि विद्यापति और जयदेव की तुलना में चण्डीदास की राधा कहीं अधिक भावमयी है, विलास का वह मांसल उन्माद यहाँ लक्षित नहीं होता। जयदेव के राधाकृष्ण विलासकलाकलित हैं, विद्यापति की राधा प्रगल्भा तो नहीं है, परन्तु कामवासना पंख खोलकर भरपूर उड़ना चाहती है—फड़फड़ा रही है—अभी मुग्धा होने से उसे रास्ता साफ नहीं मालूम है।

सूर की राधा सिद्धान्ततः स्वकीया है, 'रास' के प्रसंग में उसका कृष्ण से विवाह भी होता है, पर विवाह से पूर्व ? लौकिक दृष्टि से परकीया होते हुए भी उनका सनातन रागात्मक सम्बन्ध है। कृष्ण 'भौंरा चकडोरी' लिए खेलते-खेलते रवितनया के तट पहुँचते हैं—फिर

औचक ही देखी तहँ राधा नयन विसाल भाल दिये रोरी।
× × ×
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥

सहसा कृष्ण राधा को देखते हैं और राधा कृष्ण को—दोनों ठगे से रह जाते हैं। आँख में आँखें अटक जाती हैं—

प्रथम सनेह दुहूँने मन जान्यो।
सैन सैन कीनी सब बातें गुप्त प्रीति सिसुता प्रकटान्यो॥

प्रथम दर्शन, फिर भी झिझक नहीं। कृष्ण कहते है कि वह उनके साथ क्यों नहीं खेलने चलती? क्या कुछ वे राधा का चुरा लेंगे? वृषभानु बाबा की सौगन्ध वह प्रतिदिन कृष्ण को खेलने को बुला लिया करे। कृष्ण कहते हैं—और कुछ नहीं, जरा तुम देखने में सीधी-सादी लगती हो, इसीलिए तुम्हारे साथ खेलने को जी चाहता है—

"सूधी निपट देखियत तुमकौ तातैं करियत साथ"

इसके अनन्तर राधा-कृष्ण कहीं खरिक में तो कहीं यमुना मार्ग में मिल जाते हैं। एक बार नन्द कृष्ण को लेकर स्वय खरिक मे जाते है और राधा को देखकर पहचान जाते हैं। नन्द का निदेश है कि दोनों मिलकर खेले और गायों की देख-रेख करते रहें। दोनों की मधुरलीला चलती है। गुप्त लीला करने पर जब वृन्दावन चले जाते हैं—उसी समय अम्बर मेघ-मेदुर हो जाता है, तमाल वलयित वनभूमि की श्यामता और प्रगाढ़ हो जाती है, रात्रि का समय यों ही है। नन्द राधा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि कृष्ण भीरु है—उसकी बाँह पकड़ कर उसे घर छोड़ आये। फिर क्या था—राधा-कृष्ण कुञ्ज भवन मे क्रीड़ार्थ चले जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न व्याज से राधा और कृष्ण कभी मेघाच्छन्न नभोमण्डल तले वृन्दावन में विहारपरायण दिखते हैं, कभी घन कुञ्ज में रतिरण धीर महासुभट रति संग्राम में उतर आते हैं।

हरि हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्ही
प्रिया बिनु बसन करि, उलटि, धरि भुजनभरि।
सुरति, रति दूरि, अति निबल कीन्हीं॥

× × ×

कहीं पर—छूटे नन्द अलक सिर छूटे। मोतिन हार टूटे, सुख लूटे।
सूर स्याम विपरीत बढ़ाई। नागरि सकुचि रही लपटाई॥

'सूरसागर' में रति की प्रगाढ़ स्थिति के दर्शन मान-विरह के बाद ही मिलती है। मान विप्रलम्भ के अनन्तर कृष्ण से मिलने पर भी राधा को विश्वास ही नहीं हो पा रहा है कि वह उनसे मिल रही है—

राखेंहि मिलेहुं प्रतीति न आवति

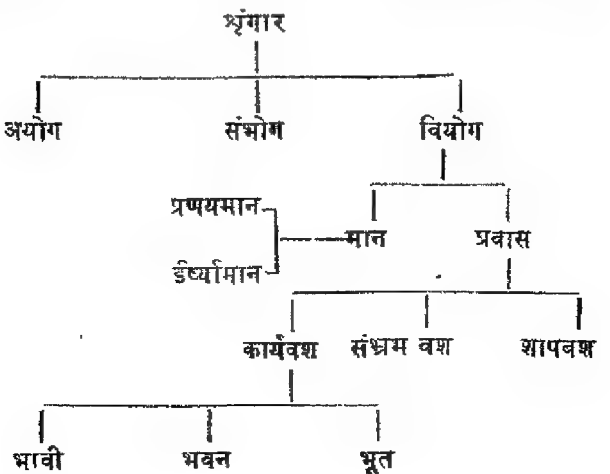
मान कहीं गर्ववश, कहीं आत्म प्रतिबिम्ब देखकर भ्रमवश, कहीं अपराध बोध वश हुआ है। मानभंग के बाद हिंडोला तथा होली की जो सामूहिक संभोग लीलाएँ आयोजित हुई हैं उनमें शृंगार की प्रगाढ़ता अभी चरम सीमा को पहुँच गयी है।

यहाँ शृंगार रूप-लोभ या साहचर्य वश नहीं, अपितु शाश्वत सम्बन्ध वश आध्यात्मिक स्तर पर नियोजित है, अन्यथा पाँच-सात वर्ष की अवस्था में प्राकृत स्तर पर संभोग की कहाँ सम्भावना? प्राकृत शरीर तो महज आवरण है—

अप्राकृत स्तर की लीला अप्राकृत शरीर से ही सम्भव है—तभी तो सूर इसे निगमागम्य और रहस्य मानते है। यही बाल आकार के आवरण में पड़ा रहस्य-मय रूप गोपियों को जन्मजात कर्षण करने लगता है और उसे कोई रोक नही पाता। गुरुजन बाल रूप में गतिशील यौवन लीला को लक्षित नहीं कर पाते। इस अवसर पर परिवेश के रूप में तमाल श्यामल वन भूमि, मेघ मण्डित अम्बर, विद्युत की कौंध, मेघ की गर्जना सूर को बड़ी प्रिय है। शृंगार की भावना से भरित राधा-कृष्ण की आंखों से जब कृष्ण-राधा को सूर देखते है—तो असीम शोभा समुद्र का वर्णन करते नहीं अघाते और स्वयम् भावमग्न हो जाते है।

विप्रलम्भ शृंगार

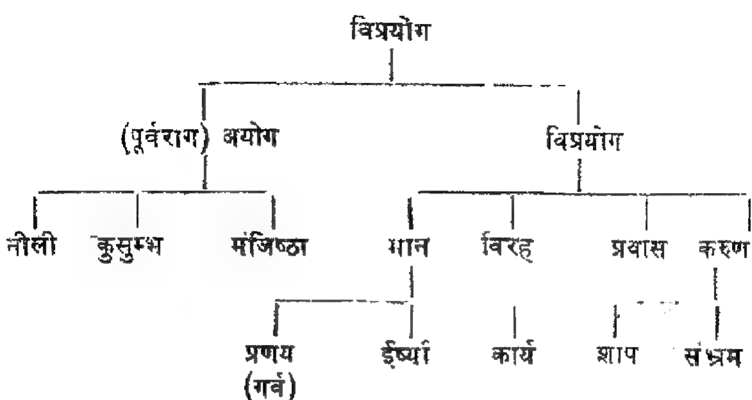
विप्रलम्भ पक्ष को ध्यान मे रखकर विवेचकों ने प्राकृत और अप्राकृत—दोनों स्तरों पर इसके भेद-प्रभेद किये है। कुछ एक विवेचक तो ऐसे भी हैं जिन्होंने 'सूरसागर' के विप्रलम्भ वर्णन को दृष्टिगत करके भी भेद-प्रभेद निर्धारित किये है। दश रूपककार ने शृंगार के तीन भेद किये हैं—अयोग, विप्रयोग तथा संभोग। अयोग का अर्थ है—अन्योन्यस्वीकार का अभाव। परस्परानुरक्त नवप्रेमियों का जहां पराधीनता या दैव वश व्यवधान होने के कारण समागम न हो सके—वहां अयोग शृंगार होता है। इसी को कहीं-कहीं पूर्वराग कहा गया है। इसकी दस दशाएँ मानी जाती है—अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मरण। विप्रयोग में अन्योन्य स्वीकार हो जाने के बाद भी, पारतन्त्र्य और दैव के हट जाने पर परस्पर की प्राप्ति हो जाने पर भी—अप्राप्ति की अतृप्तिकर स्थिति आ जाती है। इसके दो भेद हैं—मान और प्रवास। मान भी दो प्रकार का है—प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान।



दूसरा वर्गीकरण वाग्देवतावतार मम्मट का है। इनके अनुसार शृंगार के दो भेद हैं—संभोग और विप्रलम्भ। विप्रलम्भ के पाँच भेद हैं—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप। साहित्यदर्पणकार ने विप्रलम्भ के चार भेद बताये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण विप्रलम्भ। देखने या सुनने से परस्पर जिन नायक-नायिका में राग तो उत्पन्न हो जाय, परन्तु अभीष्ट की प्राप्ति न हो, तो उस दशाविशेष को पूर्वराग कहते है। दशरूपककार ने इसे ही 'अयोग शृंगार' कहा है। दर्पणकार के अनुसार पूर्वराग भी त्रिविध होता है—नीली, कुसुम्भ तथा मञ्जिष्ठा। 'नीलीराग' वह प्रेम है जो अनुरक्त चित्त से किसी भी तरह न तो हटता है और न ही कटाक्ष आदि बाह्य विकारों से सखियों या गुरुजनो के समक्ष प्रकट होता है। इसका कारण है—लज्जा और धैर्य की गम्भीर स्थिति। नील वस्त्रादि पर जब चढ़ जाता है तो धोने से छूटता भी नहीं और वस्त्र का रंग बदलता नहीं, चटक अवश्य कर देता है। इतिहास में राम और सीता का पूर्वराग ऐसा ही मर्यादित राग था। कुसुम्भराग वह है जो कारण विशेष से नष्ट भी हो जाता है और सखिजनों के समक्ष तदनुरूप व्यवहार से प्रकाशमान भी होता है। पुष्परंग रञ्जित वस्त्र का रंग जल प्रक्षालन से धुल जाता है और अप्रक्षालित रहने पर स्पष्ट दृष्टिगोचर भी होता है। मंजिष्ठा राग ...है जो किसी भी कारण से हटता तो नहीं, किन्तु उसका दबाना सम्भव नहीं है...। मंजिष्ठ राग प्रगाढ़ होता है।

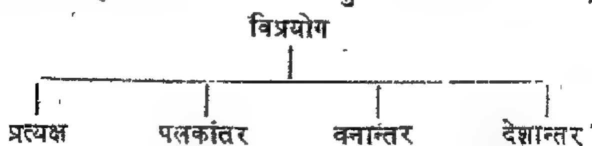
मान या कोप दो प्रकार का होता है—प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान। प्रणयमान की गति वक्र होती है और यह उभयारब्ध होता है। यह अकारण भी हो सकता है। ईर्ष्यामान की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। जिस अपराध के कारण यह ईर्ष्या होती है वह तीन प्रकार का होता है—उत्स्वप्नायित, भोगांक तथा गोत्र स्खलन। इन त्रिविध उपायों से होने वाले अपराध के शमन के लिए नायक अनुनय-उपाय करता है और वह षड्विध सम्भव है—साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा, रसान्तर।

प्रवास स्पष्ट ही है। तीन कारणों से उत्पन्न होता है और इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसमें भी पूर्वराग की भाँति दस दशाएँ होती हैं—अंग—असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधैर्य, अनालम्बता, तन्मयी-भाववश उन्माद और मूर्च्छा तथा स्मृति। करुण विप्रलम्भ एक अतिरिक्त प्रभेद यहाँ कहा गया है। इस प्रकार इस विवेचन को संपिण्डित करके यदि कहा जाय तो चित्र इस प्रकार का हो सकता है—



प्राकृत स्तर पर दृष्ट वियोग (अतृप्त रति) की दशाओं की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखकर ये सारे भेद किये गये हैं। अप्राकृत स्तर पर भक्तों ने विरह के और भी रूपों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, नन्ददास ने कहा—

ब्रज में विरह चारि परकारा। जानत हैं जो जाननिहारा।
प्रथम प्रतच्छ विरह तू गुनि ले। तातैं पुनि पलकांतर सुनि लै।
तिसरौ विरह बनांतर भये। चतुरथ देसांतर कैं गए।।



इनमें से दो तो प्रवासान्तर्गत ही हैं, पर प्रत्यक्ष और पलकान्तर विरह अप्राकृत स्तर के हैं [प्रत्यक्ष विरह तथा पलकान्तर विरह]। प्रत्यक्ष विरह प्रेम की लहर है, जो प्रिय के सामने रहते ही उमड़ पड़ती है। वस्तुतः—

भूत छिए मदिरा पिये सब काहु सुधि होय।
प्रेम सुधा रस जो पिए, तिहि सुधि रहै न कोय।।

पलकान्तर विरह वह है जहाँ विलोकन काल में पलक गिरने से जो व्यवधान होता है उससे व्रज गोपिकाओं में भारी व्याकुलता बढ़ जाती है और विधाता को गारी देने लगती हैं। नारद भक्ति सूत्र में कही गयी ग्यारह विरहासक्तियों में अंतिम है—परमविरहासक्ति—उसके भी दर्शन 'सूरसागर' में उपलब्ध हैं।

राधा और कृष्ण का पूर्वराग मांजिष्ठ है। करुण विप्रलम्भ का अवसर ही नहीं है, अतः दो ही रूप सम्भव हैं—मान और प्रवास। मथुरागमन से पूर्व वृन्दावन या गोकुल में ही प्रणयमान और ईर्ष्यामान की स्थितियाँ सम्भव हैं। इनका उल्लेख संभोग शृंगार के प्रसंग में यत्र-तत्र दिखलाया भी गया है

परमविरहासक्ति की दशा में जब प्रेम छलछला उठता है तब प्रत्यक्ष विरह या पलकान्तर विरह की स्थिति सम्भव है। आध्यात्मिक अथवा अप्राकृत स्तर पर ही यह सब कुछ सम्भव है।

मथुरागमन के बाद प्रवास विप्रलंभ का आरम्भ होता है—यह संभ्रम या शापहेतुक नहीं है, प्रत्युत कार्यहेतुक है। वात्सल्य विप्रलम्भ का उल्लेख हो चुका है, संप्रति गोपी और राधा तथा कृष्ण के विप्रलम्भ की चर्चा प्रसक्त है। सूर ने विरह वर्णन का तमाम क्रमागत पद्धतियों की झलक दी है। पर पद्धतियों की प्रदर्शनी नहीं है यह स्वाभाविक तन्मयता की दशा में विरह का महारस इन पद्धतियों में निरर्गल और उद्वेल होकर प्रवाहित हैं। 'प्रलाप' और 'उन्माद' तो जगह-जगह फूट पड़ता है। ये गोपतरुनियाँ—इस माला की सुमेरु राधा 'स्याम रस' का पान कर मतवारी हो गयी हैं। यह रस इनके रोम-रोम में इस प्रकार मिल गया है कि अब निकाले न निकल पाता है और न ही निकाला जा सकता है—

तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोवन रस चढ़ायौ, अतिहिं भई खुमारि॥

कृष्ण के साथ यौवन रस का उपभोग करने के बाद स्याम रस की जो खुमारी चढ़ जाती है या चढ़ी रहती है—उससे वे सब इतनी विवश हैं कि कृष्ण के बार-बार कहने पर भी दानलीला के बाद घर की ओर पाँव नहीं उठा पातीं। असल में, मन है तन का इंजन और वह सर्वात्मना कृष्ण में रल-घुल गया है—फिर तन के इन डिब्बों को घर की ओर खींचे कौन ?

घर तनु मन बिना नहिं जात
आपु हँसि-हँसि कहत हौ जू चतुरई की बात।
तनहिं पर है मनहिं राजा, जोइ करै सो होइ।
कहौ घर हम जाहिं कैसे, मन धर्‌यौ तुम गोइ॥

घर पहुँचने पर उन्हें न कुछ सुनायी पड़ता है न दिखायी, कारण यह है कि जिस अन्तःकरण से यह सब करना है वह 'महारस' से छका हुआ है—उसी के प्रभाव से आक्रान्त है।

महारस अंग-अंग पूरन, कहाँ घर कहँ बाट।

अवस्था यहाँ तक पहुँच चुकी है कि गोरस बेचने के निमित्त निकली हुई गोपियों के मुँह से 'गोरस' की जगह 'गुपाल' नाम निकलता है, गोरस नाम ही भूल गया है—

गोरस कौ निज नाम भुलायौ।
लेहु-लेहु कोऊ गोपालहिं गलिनि गलिनि यह सोर लगायौ।

इस प्रगाढ़ प्रेम भाव के प्रकट होते ही इनमें इतना बल आ जाता है कि लज्जा रूपी तरल तरंगिणी तथा गुरुजन रूपी गहरी धार को पार करते देर ही नहीं लगती, भौतिक शरीर का केंचुल छोड़कर भावदेह के साथ कृष्ण रूपी महारस में निमग्न हो जाती हैं।

ग्वालिनि प्रकट्यो पूरन नेहु
लज्जा तरल तरंगिनी, गुरुजन गहरी धार।
दुहूँ कूल परिमित नहीं, तरत न लागी वार॥
प्रेम मगन ग्वालिनि भई, सूरज प्रभु के संग।
स्रवन नैन मुख नासिका ज्यों केंचुल तजै भुजंग॥

अन्ततः ये गोपियाँ घोषणा ही कर देती हैं—

सखि, मोहिं हरि-दरस-रस लाइ।
हौं रँगी अब स्याम मूरति, लाख लोग रिसाइ॥

इस मनोभूमिका पर आसीन गोपियों और राधा से जब कृष्ण पृथक् होने लगे, अक्रूर द्वारा मथुरा ले जाये जाने लगे, तब इन पर क्या बीती होगी—अनिर्वाच्य है, जिन्हें पलकान्तर और प्रत्यक्ष विरह असह्य है उन्हें जब वनान्तर और उससे भी बढ़कर देशान्तर विरह हो—तब तो वाणी मौन हो जाती है, फिर भी सूर ने हार न मानी और प्रवास हेतुक विरह का भी वर्णन किया। सूर का भावसिक्त हृदय सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य—सभी भूमियों पर सचरण कर अनुरूप विरह व्यंजना करता है—यह अवश्य है कि इस विरह गान में सर्वाधिक भाग गोपियों को ही मिला है। वैसे राधाकृष्ण की स्वरूप शक्ति है—उसका गाम्भीर्य कुछ और ही है। सूर ने इसीलिए राधा के लिए गुरु-गम्भीर विशेषण का प्रयोग किया है।

भावी विप्रलम्भ की छाया दुस्वप्न बनकर नन्द की आँखों मे उतरती है, किन्तु यशोदा और गोपियों का वात्सल्य और दाम्पत्य विप्रलम्भ 'भवन्' से शुरू होता है और 'भूत' तक जाता है। गोपियों को जब यह ज्ञात होता है कि कृष्ण को मथुरा से लेने के लिए कोई आया है, और वे वृन्दावन छोड़ रहे हैं, तो पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं होता, पर नन्द के द्वार पर आती है और देखती हैं कि कृष्ण बलराम रथ पर बैठ चुके हैं, माता यशोदा भूमि पर लोट कर बिलख रही हैं, फिर भी निठुर होकर वे दोनों जा ही रहे हैं तब उन्हें निश्चय हो जाता है और तब जैसे उन्हें काठ मार जाय—यह दशा हो जाती है। पछाड़ खाकर जमीन पर गिर जाती हैं—वियोग की लपटों से झुलसने लगती हैं। रथारूढ़ प्रस्थित कृष्ण से गोपियों को हटाकर अलग कर देना ऐसा लगता है जैसे मधु के छत्ते से मधु की मक्खियों को अलग कर दिया गया हो।

उन्हें लगता है कि यदि गोपी होने की जगह वे कहीं रथ की पताका होतीं, या उसके अंग होती, या पथ की धूलि ही होतीं, तो रथ के साथ लगी-लगीं—साथ चली गयी होतीं।

प्रोषितपतिका के रूप में गोपियों के अन्तस् के उद्गार साहित्य की निधि है। विरह वर्णन में शास्त्रोक्त कामदशाओं—असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधैर्य, अनालम्ब, उन्माद, मूर्च्छा तथा स्मृति—का स्वभावतः समुच्छलन तो विद्यमान है ही, विशेषतः जब इन व्रजबालाओं को यह पता चलता है कि कृष्ण किसी कुब्जा पर रीझ गये हैं और वृन्दावन की तो अब उन्हें याद भी नहीं आती, मुरली बजाना अब वे असभ्यता का चिह्न मानते हैं, गाय-बैल चराने से उन्हें नफरत हो गयी है, अब तो सिंहासनासीन राजा बन गये हैं, तब गोपियाँ उपालम्भ की वर्षा करने लगती हैं। चेरी पर ही रीझना था, तो क्या गोपियाँ चेरी न हो सकती थीं ? कंस को मारने का लक्ष्य कुब्जा पर एकाधिकार करना था। अरे, यह काला, केवल ऊपरी प्रेम लिये हम सब को ठग गया।

देखो, माधो की मित्राई।

आई उघर कनक कलई सी दैनि जु गये दगाई।

अगर गाढ़ी प्रीति होती, तो क्या दो पैसे की—कागज-स्याही भी न खर्च कर सकते ? मथुरा है ही कितनी दूर, पुकार दें जोर से तो भी सुनाई पड़ जा—लेकिन जब हृदय में वास्तविक स्नेह हो, तब न ? वास्तव में प्रेम की यह परिणति है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।

उनके मन में तरह-तरह के विचार आते हैं—कभी वे कृष्ण को कोसती हैं, कभी कुब्जा को और कभी प्रीति की परिणति ही यही होती है—ऐसा निश्चय करती हैं। प्रीति वही प्रीति है—जो सर्वात्मना समर्पण करा दे और प्रतिदान की भावना न करे। सच्ची प्रीति प्रिय के सुख में सुख मानने की है, वह तो मरना भी नहीं सोचती—ऐसा सोचने से प्रिय को कलंक लगेगा न। कृष्ण जहाँ भी रहें, सुख से रहें—कभी इस सात्विक भूमिका पर वे पहुँच जाती हैं और निःस्वार्थ समर्पण में ही प्रीति की चरितार्थता मानती हैं। संसार में तमाम प्रेमी हैं जो दूर-दूर रहकर भी कभी 'प्रीति' नहीं छोड़ते, कष्ट सहकर भी अन्यथा नहीं सोचते। चातक और मेघ, मछली और जल, कमल और सूर्य, शमा और परवाना—आदि अनेक उदाहरण संसार में हैं—जो विरह की ज्वाला में जल कर भी, प्रिय की ओर से आने वाले दुर्व्यवहार को सहकर भी अपनी राग-साधना को दुर्बल नहीं बनाते, अपितु उसे दीप्त-दीप्त तर ही करते जाते हैं—तो गोपियों को भी उनसे सीख क्यों नहीं लेना चाहिए। हाँ, उन्हें कभी मधुवन पर और

कभी चाँद पर क्रोध अवश्य आता है। कैसा है—यह मधुबन, जो श्याम के विरह में भी हराभरा है ? इसे तो जलकर खाक हो जाना चाहिए। इससे अच्छी तो कालिंदी है जो विरह ज्वर में काली पड़ गयी है। ऋतुएँ खासकर जब पावस ऋतु आती है—तो इनकी वेदना तीव्र हो जाती है। गोपियों को अकेले देखकर ये बादल भी गर्जने लगे हैं, मोर भी बैरी हो गये हैं, कोयल भी चीखने लगी है—काले लोगों की बात ही अलग है।

गूढ़-गम्भीर और परमवियोगिनी राधा तो गम्भीर सोच में मौन हो गयी है, सिर नीचा किये नख से हरि का चित्र बनाती रहती है। उसका वियोग अन्तर्मुख हो गया है—वह तो

वसन मलीन छीन देखियत तन एक रहत जो बनी बनक।

प्रस्थान के समय भी राधा थी, उसने देखा—

वह चितवनि, वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाड़ी कहि न सकति, कछु काम रही॥

कैसी 'जड़ता' है ? कभी-कभी सखियों से पूछ लेती है कि मथुरा है कितनी दूर ? "कितिक दूर मथुरा नगरी ?" उसे लगता है कि मथुरागमन सुनकर भी छाती फट क्यों न गयी ? 'रूप रस' के लालची नेत्र क्या पाने के लिए राधा के साथ रह गये ? विवशता ही थी साथ न जाने की, तो कृष्ण रूप को ही कैद कर ये बन्द क्यों न हो गयीं ? इन पर राधा को भरोसा था, पर वह भी गया।

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु, इन नैननि की परतीति गयी।
उड़ि न गये हरि-संग तबहिं तें, ह्वै न गये सखि स्याम मयी॥

एक बात अवश्य खटकती है अत्यन्त वियोग-मुखर गोपियों के बीच राधा का मौन। सूर राधा की नामोल्लेख पूर्वक वियोग मुखरता नहीं प्रदर्शित करते। क्या समूची भारतीय कवि-आत्मा उनको मुखर करती ही नहीं, जिनके ऊपर सर्वाधिक विपत्ति पड़ती है ? भागवत क्या इसीलिए राधा के विषय में मौन है ? रामकथाओं में माण्डवी और उर्मिला इसीलिए मौन हैं ? कृष्ण-कथा में राधा की भी वही नियति है ? आचार्य आनन्दवर्धन इसी का समर्थन करते हुए तो नहीं कहते कि 'रहस्य' को वाग्गोचर रखकर ही उसकी गम्भीरता ध्वनित की जाती है—वह तो विश्व का स्पन्दन है, सृष्टि की ऊष्मा है। उसके विषय में अभिधा की मात्रा इयत्ता तथा ईदृक्ता नहीं द्योतित करने लगेगी ? अस्तु, जो भी हो; अनुसन्धायकों ने भी राधापरक उक्तियों का अनुमान कर कुछ पद ढूँढ़ निकाले हैं और उसके आधार पर राधा हृदय का प्रकाश अनुमित किया है।

'सूरसागर' में विप्रयोग की चर्चा उठायी जाय और 'भ्रमरगीतसार' का प्रसंग छोड़ दिया जाय—यह असम्भव है। भ्रमरगीत के मूल उपकरण श्रीमद्-

भागवत मे उपलब्ध हैं। दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के ४६-४७वें अध्याय में यह प्रसंग आता है। कृष्ण उद्धव को व्रज भेजते हैं। उद्धव व्रज पहुँचते हैं—नन्द-यशोदा के यहां उतरते हैं। कृष्ण का सन्देश पाकर दबा हुआ वात्सल्य विरह उभर आता है—आँखों से आँसुओं की धार फूट पड़ती है। सूर्योदय के समय गोपियाँ देखती हैं कि नन्द के द्वार पर कोई रथ खड़ा है। विभिन्न अटकलें लगने लगती हैं—स्मरण अक्रूर का ही आता है—अन्य शब्द उनके निमित्त निकलने लगते हैं। बाद में उन्हें ज्ञात होता है कि वे तो कोई कृष्ण के सखा हैं, तब गोपियाँ उनका सत्कार करती है और पूछती है कि क्या वे व्रजनाथ, नहीं-नहीं यदुनाथ के पार्षद है? उन्होने अपने माता-पिता के पास भेजा है? हाँ, ठीक भी है और उनका यहाँ है भी कौन? माता-पिता से भिन्न लोगों के साथ किया गया सम्बन्ध स्वार्थवश होता है—स्वार्थसिद्ध, सम्बन्ध समाप्त। बातचीत के प्रसंग मे एक गुनगुनाता हुआ भ्रमर आता है—भन्नाई हुई खिन्न गोपियाँ कभी रोती है और कभी उस भ्रमर को व्याज बनाकर उपालम्भ आरम्भ करती हैं। कपटी के मित्र भ्रमर को सम्बोधित करती हुई नानाविध उपालम्भ कृष्ण को देती हैं—कुब्जा पर उलटा सीधा आरोप करती हैं। वैसे भागवत के इस प्रसंग में भ्रमर गीतसार के सारे उपकरण—गोपी, कृष्ण, उद्धव, भ्रमर तथा उपालम्भ—सभी मौजूद हैं, किन्तु रंग सर्वथा बदल गया है।

भागवत के बाद और सूर के पूर्व विद्यापति मे भी भ्रमरगीत का लघुकाय प्रसंग है। भ्रमर को माध्यम बनाकर उपालम्भ देने की परम्परा कोई नयी नही है—पर मध्य में क्षीणकाय अवश्य थी। संस्कृत (भ्रमरदूतम्—भ्रमर सन्देशः) तथा अपभ्रंश (पउम चरिउ) के बाद हिन्दी में सर्वप्रथम विद्यापति ही है जिन्होंने इस प्रसग का संक्षिप्त उल्लेख किया है— जिसमें गोपियों का विरहाभिलाष तथा कृष्ण की निठुरता व्यक्त हुई है। व्यवस्थित रूप से 'भ्रमरगीत' परम्परा का उपक्रम विस्तार से पहले-पहल सूर ने ही किया है और यह प्रसंग न केवल 'सूरसागर' में है, प्रत्युत 'सूरसारावली' में भी है। 'सूरसागर' मे तीन भ्रमरगीत मिलते हैं—(क) एक लगभग 300 पदों में है जहाँ नन्द यशोदा और गोपियो का विरह वर्णन है। (ख) एक है—दो पदों में; जहाँ उद्धव का व्रजागमन, आशा-निराशा, उद्धव का उपदेश, गोपियों का प्रतिवाद तथा प्रभावित उद्धव का भक्त बनकर वापस जाना वर्णित है। (ग) तीसरा तो एक ही पद का है सत्तर पंक्तियो का। यह उपदेश धर्म है। इस प्रकार कुल मिलाकर सूर के 'भ्रमरगीत सार' का समारम्भ पर्याप्त विस्तृत है।

'भागवत' के उपजीव्य होने के बावजूद भागवतकार और सूरसागर—दोनों के 'भ्रमरगीतसार' के मूल स्वर में पर्याप्त अन्तर है। भागवत का भ्रमर-

गीत वस्तुतः ज्ञानी उद्धव द्वारा ब्रजवासियों, विशेषकर गोपियों के प्रति ज्ञान-मार्गी उपदेश कराता है और गोपियाँ उस तात्त्विक प्रवचन को सुनकर शान्त भी हो जाती हैं, परन्तु 'सूरसागर', के 'भ्रमरगीतसार' का स्वर अन्तरंगत: कुछ भिन्न है। इसके माध्यम से सूर अपना जीवन-दर्शन, लोकमांगलिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करना चाहते है—विरह, उपालम्भ आदि तो है ही। उसका 'उपक्रमोप-सहार' तथा 'अभ्यास' कुछ और है। एक काफी लम्बे अरसे से बुद्ध, महावीर तथा शंकर—यानी समस्त भारतीय चिंतक 'राग' विरोधी स्वर अलापते चलते चले आ रहे थे, जिसका परिणाम भारतीय समाज को भुगतना पड़ रहा था। देश भिक्षु-भिक्षुणियों का जमात होता जा रहा था, लोगों ने मूँड़ मुड़ाया और सन्यास लेना फैशन बना लिया। गृहस्थाश्रम के पैर उखड़ रहे थे—ससार का चलना कठिन हो रहा था, जंगम विभूतियो के प्रति अनास्था बढ़ रही थी—जो सामने है वह कुछ नहीं—जो परोक्ष है—एक मात्र वही है। पारिवारिक सम्बन्धों की निस्सारता लोगों का घर बिगाड़कर अपना घर बना रही थी। लोग विघटित हो रहे थे। सस्कृति के केन्द्र अरक्षित थे। तात्त्विक चिन्तन के अभाव में अनजाने निम्नगामी स्वभाव-प्रवाह देहवाद की ओर मुड़ रहा था—भोग राग तथा शृंगार का मांसल प्रवाह शासकीय छाया मे निरकुश हो रहा था—आचार्य वल्लभ और उनके अनुयायियों में देश की सस्कृति की रक्षा की चिन्ता घनीभूत हो रही थी। तुलसी ने यही कलि पीड़न की वेदना 'विनय' में तथा 'सूर' ने 'भ्रमरगीत' में ध्वनित की। सूर के कृष्ण को बडी चिन्ता है—"विरह रस, किहि मन्त्र कहिए क्यों चलै संसार' उद्धव तात्कालिक भारतीय चिन्तन का शिखर है—जो एकमात्र निर्गुण मे आस्था रखता है, विशिष्ट विभूतियों से विमुख है, राग को निस्सार समझता है, एकमात्र ज्ञानयोग का महत्व मानता है, कृष्ण के मन में, उनकी धमनियों में संचरित राग की ऊष्मा को उपहासास्पद समझता है। उसके लिए स्वस्थ और अस्वस्थ राग जैसी कोई भेदक रेखा नहीं है—वह पूर्णतः निषेध है। कृष्ण को ऐसे चैन्तनिक प्रवाह के प्रति चिन्ता है। कृष्ण अर्जुन का मोह भंग कर सके, पर उद्धव का मोह भग करने में स्वयं को असमर्थ पा रहे हैं। वे सोचते हैं कि यह सोने का घड़ा अमृत रस से हीन है—फलतः अपने अस्तित्व को चरितार्थ नही कर पा रहा है। ऐसे शुष्क लोगों में हृदय की सम्भावनाएँ हृदय वालों के बीच ही उभारी जा सकती हैं : ऐसा निश्चय कर साहस पूर्वक कृष्ण व्रजवासियों की उद्वेगकारी स्मृति की चर्चा चलाकर उस उद्धव को भेजना चाहते हैं जिनमें शुष्क ज्ञानमार्ग के प्रति बौद्धिक निष्ठा है। उद्धव समझते हैं कि कृष्ण ने उनके ज्ञान की धाक मान ली। फलतः वे प्रसन्न होकर व्रजयात्रा करते हैं और क्रमशः कृष्ण तथा

कुब्जा का सन्देश और पत्र व्रजवासियों—नन्द-यशोदा-गोपियों—को देते है। प्रत्यागमन की आशा पर इससे तुषारपात होता है—धैर्य का बाँध टूट जाता है, आँसुओं का दुर्दम्य और अविरल प्रवाह फूट पड़ता है। क्या नन्द, क्या यशोदा और क्या गोप तथा गोपियाँ ? राधा तो धराशायी हो जाती है, बड़ी हिम्मत और साहस से जैसे-तैसे खड़ी हो पाती है। पत्र की प्रतिक्रिया को तो पूछिए ही मत। पत्र में जब ज्ञान-उपदेश का स्वर सुनायी पड़ता है तो भावी संयोग की भी प्रत्याशा जाती रहती है और इस जले पर नमक की तरह उद्धव का ज्ञान-योग-गर्भ भाषण। गोपियाँ कभी उद्धव को बनाती हैं, कभी कृष्ण-कुब्जा को फटकारती हैं, कभी उनके सन्देश पर ही अविश्वास करती हैं। अभिप्राय यह कि न जाने विप्रयोग की किन-किन मनः स्थितियों से होकर गुजरती हैं—निसीम है। इसे ३३ और ३४ संचारियों के बुलबुलों में या दशविध काम-दशाओं में या ऋतु वर्णन, बारहमासा की परम्परा-बिजड़ित-प्रणालियों मे, चन्द्रोपालम्भ की सरणियों में, उन्माद की चेतनाचेतन-विवेक-ग्रासी चित्त-दशाओ में, इनके उनके पर खीझ से बरस पड़ने की हार्दिक स्थितियों में—तथा सारी प्रकृति को आत्मरसासिक्त उद्गारों में ही बाँधकर कह दिया जाय—यह सम्भव नहीं। फिर भी सब कुछ यहाँ है। नि:सीम सात्विक सम्भावनाओं से संवलित हार्दिकता के इस तूफान में उद्धव का सब कुछ बह जाता है—अपनी तुच्छता का बोध होता है, गोपी भाव की महत्ता का साक्षात्कार होता है—तब पता चलता है कि कृष्ण जैसी सात्विक विभूति इनके रागात्मक सम्बन्धों को क्यों नहीं भूल पाती ? तब उन्हें अपना कोरा सिद्धान्त हलका लगता है और तब उन्हें बोध होता है कि जिन्हें वे बारहखड़ी पढ़ाने आये थे—वे तो षड्दर्शन पारंगत हैं। आये पढ़ने और पढ़कर स्वयम् तृप्त हो गये। जिस तरह प्रस्थान करते समय उद्धव कृष्ण की रागासक्ति पर व्यंग्यपूर्ण मुस्कान छोड़ रहे थे, वापस आने पर कृष्ण ने उसे सूद ब्याज के साथ उद्धव को लौटा दिया। राग-द्वेष-प्रतिपक्षी होकर हेय हैं—निष्प्रतिपक्ष होकर नहीं। जो जगत् को स्वात्म विस्तार रूप में देखकर क्रमागत अनादि तू तुम-मैं-मेरा-की गलतफहमी समाप्त कर देता है—उसका राग निःसीम फलतः विश्वरक्षक और विश्व रंजक बन जाता है। आविद्यिक भेद-बोध, अन्यथावभास उसका समाप्त हो जाता है। जीवन की चरितार्थता रागात्मक सत्ता के इसी विस्तार में है—यही सन्देश 'भ्रमरगीतसार' और उसके माध्यम से सबको है।

'भ्रमरगीतसार की यह परम्परा अष्टछापियों में ही नहीं, भक्तिकाल और रीतिकाल के मैदानों को पार करती हुई—आधुनिक काल तक चली आयी—पर रंग उसका बदलता गया। कभी वह केवल कवित्व की अभिव्यक्ति का

सहारा बना और कभी (भ्रमरदूत) राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम—पर इस समस्त परम्परा में सूर का भ्रमरगीती रंग निराला ही रहा।

सूर स्वस्थ और दिव्य प्रेम के समर्पित गायक हैं। प्रत्येक देश या राष्ट्र की एक विशिष्ट काव्य-चेतना होती है जिसका नैरन्तर्य और समुत्कर्ष कवि-हृदय के भीतर से प्रवाहित होता रहता है। निश्चय ही निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि सूर को यह काव्यचेतना अपने पूर्वजों से मिली थी और परवर्तियों को जाने-अनजाने प्रभावित करती रही। संवाद तो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की प्रतिभाओं में देखा जाता है—एक राष्ट्र की एक भाषा परिवार की रचनाओं मे यदि दृष्टिगोचर हो, तो इसमें आश्चर्य क्या है—"संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्"। निश्चय ही भक्तिशाखा और रीतिशाखा की प्रतिभाएँ सूर से प्रभाव ग्रहण करती रही होंगी, पर यह साम्य सदा ज्ञात रूप से आता ही है—ऐसा नहीं। कभी-कभी कल्पना की समान भूमियों पर पहुँच जाने पर भी अनायास संवाद हो जाता है। निश्चय ही सूर 'सूर' हैं और तुलसी 'ससी'। भागवत का स्थान सूरसागर न ले सका, किन्तु भागवत को पचाकर तुलसी का रामचरितमानस उसका स्थानापन्न बन गया।

सूर का वाग्वैदग्ध्य और वक्रता-विधान

काव्य का केन्द्रीय तत्व सौन्दर्य या चारुता है। इसका सम्यक् ग्रहण सहृदय द्वारा ही सम्भव है। सहृदय वह है जिसमें सहृदयता हो और अभिनव गुप्त के शब्दों में सहृदयता 'शुक्र क्षोभात्मा' है। शुक्र क्षोभ की स्थिति में सौन्दर्य का ग्रहण होता है—असुन्दर में से भी सौन्दर्य झाँकने लगता है। इस सौन्दर्य दर्शन से शुक्रक्षोभ होता है। शुक्रक्षोभ की दशा कामोद्रेक दशा है। निष्कर्ष यह कि कामोद्रेक से सौन्दर्य ग्रहण और गृहीत सौन्दर्य से कामोद्रेक और दोनों का पर्यवसान आनन्द। इस प्रकार काम—सौन्दर्य—आनन्द—तीनों ही एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अदिव्य, पार्थिव, मर्त्य या भेद की भूमिका पर इनकी पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है अथवा ये अपने को पृथक् कर लेते हैं—पर दिव्य, अपार्थिव, अमर्त्य या अभेद भूमिका पर ये तीनों एक हो जाते हैं। अभेद राज्य में जो काम है, वही सुन्दर है और वही आनन्द भी। परात्पर तत्व श्रीकृष्ण जहाँ एक ओर 'साक्षान्मन्मथमन्मथः" हैं वहीं परम सुन्दर भी—अधरित कोटिकंदर्पलावण्य' भी और सच्चिदानन्द तो हैं ही। लगता है कि वही एक भेदराज्य में त्रिधा विभक्त हो जाता है, इसीलिए तीनों का परस्पर इतना अविच्छेद्य सम्बन्ध है और इसीलिए तीनों एक-दूसरे में मिलने को इतने बेचैन हैं।

जिस जगह परम तत्वरूप भगवान् विषय रूप में वरण किये जाते हैं, उस

जगह विषयसम्भोगतृष्णा को प्रेम कहा जाता है—पर विशुद्ध विषय-सम्भोग तृष्णा काम है। अतः काम और प्रेम में स्वरूपतः नहीं, विषयतः भेद है।

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते। —उज्ज्वल नीलमणि

× × ×

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्। —भक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीकृष्ण 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' 'चिरसुन्दर' तथा चिदानन्दमय हैं। सूर के आराध्य ये ही श्रीकृष्ण हैं। सौन्दर्य का रूप से और रूप का वय विशेष से भी सम्बन्ध है। यद्यपि पुष्टिमार्गियों की दृष्टि में भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय हैं—तथापि सहजतः आरम्भिक वय से रूप का और उस रूप से सौन्दर्य का विशेष सम्बन्ध है। इसीलिए महाभारत के परवर्ती कृष्ण नहीं, भागवत के पूर्ववर्ती वय वाले कृष्ण और उसमें भी गोकुल और वृन्दावन वाले कृष्ण अरुणवयस्क तथा सुषमागार हैं। इसीलिए सूर की रचनाओं का एक रूप 'स्कंधात्मक' भी उपलब्ध है—जिसका सम्बन्ध महाभारत से नहीं, भागवत से जोड़ा जाता है। इसी भागवत प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम परात्पर परब्रह्म विषयिणी साधनानुभूत अनुभूति और चारुता ही सूर की वाङ्मयी अभिव्यक्ति का मूल है। यही अनुभूति सर्जनात्मक अनुभूति है और उसी का मूर्त रूप उनका काव्य है। उनकी सारी कला इसी अनुभूति की सुगन्ध है—इसी अनुभूति बीज का प्रस्फुटन है। अत संक्षेप में इस मूलवर्तिनी अनुभूति का स्वरूप स्पष्ट कर लिया जाय।

भक्त कवि सूरदास की रागात्मिका वृत्ति उत्तरोत्तर परिष्कृत होती हुई महाभावस्वरूपा ह्लादिनी वृत्ति की भूमिका में आरूढ़ हो जाती है और तब स्वयं प्रकाश चिदानन्दमय श्रीकृष्ण का आस्वाद भरपूर कर पाती है। माधुर्य का यही परिणत साक्षात्कार है। हो सकता है कि इस चरम भूमि के साक्षात्कार के लिए उन्हें शान्त—दास्य—सख्य—वात्सल्य की भूमियाँ पार करनी पड़ी हों। इनकी अंकृतियाँ 'सागर' में विद्यमान हैं—इसीलिए विवेचकों में इनकी अनुभूति को लेकर पर्याप्त विवाद है। यहाँ संक्षेप में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि असंकोचमूलक सख्य भावापन्न सूर अंततः महाभाव स्वरूपा ह्लादिनी वृत्ति के द्वारा अपने आराध्य से तन्मय हो जाते हैं और उस समाधिसाध्य अनुभूति की यथासम्भव वाक्साध्य अभिव्यंजना व्युत्थान काल में आरम्भ कर देते हैं।

इस अनुभूति को—चारुता को—बाँधने में अशब्दात्मक राग से लेकर शब्द और अर्थ तक सभी अपनी-अपनी समस्त क्षमताओं के साथ प्रतिस्पर्द्धी रूप से प्रयुक्त हुए हैं। डॉ. सावित्री[1] सिन्हा ने कहा है "साधना पद्धति में भावतत्त्व के

---

१ ... के कृष्णभक्ति काव्य में पृ २८।

विषय में यह विशिष्ट निर्देशन यद्यपि पूर्ण अनुभूति मूलक है परन्तु गोपियों का यह माध्यम भक्त और भगवान् के बीच आ जाता है। भगवान् के प्रति बौद्धिक विश्वासजन्य राग की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष न होकर गोपियों के माध्यम से होती है, फलस्वरूप गोपियों के प्रति बौद्धिक विश्वास भी अनिवार्य हो जाता है। भक्त गोप गोपियों के व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य करके तब सत्य की अनुभूति करता है। इसलिए इस स्तर पर भी भक्त कवियों द्वारा अनुभूत सत्य प्रत्यक्ष और मूर्त स्तर पर न होकर अप्रत्यक्ष और कल्पना के स्तर पर होता है।'' इस वक्तव्य से सहमत होना बड़ा कठिन है। इतना तो सही है कि भक्तों की भक्ति रागानुगा है—किसी न किसी से दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भाव की साधना में भक्त को तादात्म्यापन्न होना पड़ता है—माध्यम रखना पड़ता है, परन्तु अनुभूति (भावानुभूति) अप्रत्यक्ष और कल्पना के स्तर पर होती है—यह पक्ष स्वीकार्य नहीं है। लीला दर्शक आश्रय से तादात्म्यापन्न होकर भी क्या भाव की साक्षात् अनुभूति नहीं करता? कल्पना (बोध) के स्तर पर करता है? नहीं, वह साक्षात् भावानुभूति करता है और 'हृदय' से करता है। हाँ, उनका यह कहना मान्य हो सकता है कि भक्त कवियों के प्रतिपाद्य को मुख्य रूप से इन भागों में विभाजित किया जा सकता[१] है—(क) अनुभूत्यात्मक—(i) राग प्रधान, (ii) अनुभूति प्रेरित कल्पना प्रधान।

(ख) दार्शनिक।

(ग) विवरणात्मक।

(घ) चमत्कारवादी तथा रीतिबद्ध।

पर इन सबका संचालक केन्द्र अनुभूति ही है। गुरु-कृपा से पूर्व 'सौन्दर्य-सागर' कृष्ण की लीलानुभूति नहीं है—और सम्भव है सूर-सागर में इस लीलानुभव पूर्व, पीठिका काल की भी लीलानुभव-रहित शान्त भाव की रचनाएँ हों—तथापि अपना मुख्य विवेच्य सूर की लीलानुभूतिजन्य अभिव्यक्तियों में झलकता हुआ वैदग्ध्य तथा वक्रता ही है। अतः अनुभूति को तो धुरी मानना ही पड़ेगा। और फिर क्या कोई रचना बिना अनुभूति के भी रचना हो सकती है? लीला-दर्शन से पूर्व शान्तभाव की रचनाओं में भी विषय-वैराग्य या निर्वेद नामक भाव की अनुभूति तो हो ही सकती है। जब तक विषय-वैराग्य का परिपाक न होगा, आशय या वासना पक्व न हो जायगी, तब तक मानसिक विक्षेप शान्त कैसे होगा और जब तक यह शान्त न होगा तब तक 'सत्य और सुन्दर कृष्ण'

---

१ वही। पृष्ठ २६।

के प्रति राग पैदा ही किस प्रकार होगा ? निष्कर्ष यह कि रचना मात्र की तह में अनुभूति तो रहेगी—उसके वक्षस् पर ही अन्तस् की अन्य वृत्तियाँ सक्रिय होकर सर्जक को सर्जनोन्मुख करेंगी। इस प्रकार उपर्युक्त चतुर्विध रचनाओं में मन, बुद्धि तथा चित्त और इन सबके साथ सर्जक का नत-फण 'अहम्'—सक्रिय है। रागात्मक रचनाओं में रमणशील मन, कल्पना प्रधान और दार्शनिक में बुद्धि, विवरण प्रधान में अनुसन्धानात्मक चित्तवृत्ति सक्रिय है। नतफण अहम् शैली के रूप में व्यक्त है। भक्तों के द्वैतवादी दर्शन में तो प्रत्येक साधक का अपना 'स्वभाव' होता है जिसमें प्रतिष्ठित हो जाने पर वह स्वभावानुकूल लीला दर्शन करता है। अभिप्राय यह कि रचना मात्र की भूमि 'अनुभूति' है और अन्य वृत्तियाँ उस आधार पर सक्रिय हो सकती हैं।

सूर की कला की आधारभूमि का निर्देश करते हुए डॉ. मनमोहन[1] गौतम ने कहा है—"उनकी मधुर, अलंकृत और अर्थ सौरस्य पूर्ण पदावली का कारण उनकी रसानुभूति की विह्वलता और रसानुभूति की अतिशयता है। जब वे अपने आराध्य के सौन्दर्य सागर में डुबकियाँ लगाने जाते थे तो उनके अंगों में उन्हें सागर के सभी अंगों का दर्शन होने लगता था और वे एक अद्भुत साग-रूपक प्रस्तुत कर जाते थे।" डॉ. सिन्हा[2] ने इसका विरोध किया है और कहा है कि निमग्नकाल रचना काल नहीं होता—अभिभूत व्यक्ति में विश्लेषण की शक्ति और चेतना नहीं रहती। यहाँ तक तो मैं भी सहमत हूँ। मैं भी यह मानता हूँ कि अनुभूति काल नहीं, व्युत्थान काल में रचना होती है, पर यह कहना कि—

"देखो माई सुन्दरता को सागर।

बुधि विवेक मन पार न पावत मगन होत मन नागर॥

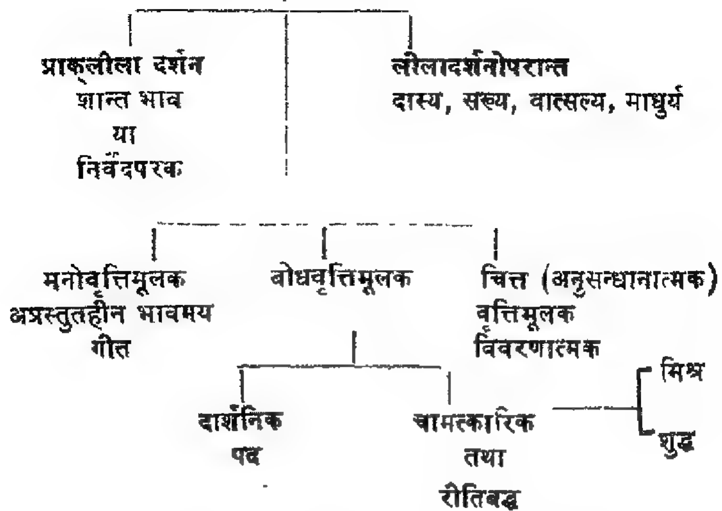
तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि कटि पट पीत तरंग।

इत्यादि रचना अनुभूति का परिणाम न होकर जागरूक कल्पना का ही परिणाम है—सुसंगत नहीं। इसमें कल्पना अवश्य जागरूक है—विशुद्ध अनुभूति ही अप्रस्तुत हीन रह कर अभिव्यक्ति नहीं बन गयी—फिर भी यह कहना कि यह अनुभूति का परिणाम नहीं है—भ्रामक अवश्य है। डॉ. सिन्हा के वक्तव्य की कदाचित् संगति बिठा भी लें—तो भी भ्रमोत्पादक तो है ही। अतः उन्हें इस प्रकार प्रतिपाद्य का वर्गीकरण करना चाहिए—

---

१ सूर की काव्यकला, पृ. ३८।

२ व्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प पृ. ३०।



फिर भी यह स्मरणीय है कि वर्गीकरण कुछ दूर तक ही ठीक रहता है—आत्यंतिक नहीं। कहीं-कहीं इन सब वृत्तियों का सांकर्य भी सम्भव रहता है।

इन सभी रचनाओं में वाग्वैदग्ध्य भी है और वक्रता का विधान भी। प्रसंगात् वैदग्ध्य तथा वक्रता को भी परिभाषित कर लेना होगा। साहित्य-मर्मियों ने व्यंजना की स्थापना करते हुए ग्राहक के दो भेद किये हैं—बोद्धा और विदग्ध। बोद्धा वह है जो 'वाच्य' अर्थ तक ही समझता है और विदग्ध वह 'सहृदय' है जो सर्जक के चेतन-अचेतन मानस स्तर से निःसृत अपार अर्थ-झंकृतियों को पकड़ लेने में क्षम होता है। इस दृष्टि से ग्राहक की भाँति वह सर्जक भी विदग्ध सहृदय कहा जायगा जिसके शब्द 'आनन्दवर्द्धन के शब्दों में 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय' हों। अर्थात् स्रष्टा द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सटीक' हों साथ ही वाच्य स्तर से और गहरे स्तर की अर्थ झंकृतियाँ उसके साथ लगी हों। इस प्रकार कवि का वैदग्ध्य उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द के 'सटीक' 'रसमय' तथा अनुरणनात्मक होने में है। शब्द की ये तीनों ही विशेषताएँ व्यंग्यार्थ या शब्द की व्यंजना शक्ति पर निर्भर हैं।

विवेच्य का दूसरा पक्ष है—**वक्रता**। वक्रता बाँकपन का ही पर्याय है। कुन्तक ने इसकी बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है। कवि की अनुभूति प्रेरित काव्य व्यापृति ही बाँकपन है—वक्रता है—वक्रत्वं कवि व्यापारः। सर्जक की सृष्टि मूल में ही वक्रभावापन्न है। जिस अनुभूति-प्रेरित प्रातिभ स्फुरण का

मूर्त रूप काव्य है—वह स्फुरण ही वक्र है—व्यावहारिक तथा शास्त्रीय या वैज्ञानिक अभिव्यक्ति से विलक्षण है—प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरिक्त विचित्र अभिधान या अभिव्यंजन ही वक्रता है और यह अशब्दात्मक राग तत्व से लेकर वर्ण, पद, वाक्य तथा अर्थ तक परिव्याप्त है। अतः सूर का वाग्वैदग्ध्य तथा वक्रता विधान विश्लेषित करने मे सर्वप्रथम अशब्दात्मक राग, लय या सांगीतिक पक्ष लेता हूँ। कुन्तक ने पता नहीं क्यो अपनी वक्रता को वर्ण से अर्थ तक ही प्रसृत किया—जबकि अशब्दात्मक नाद सौन्दर्य या लयात्मकता से भी प्रतिपाद्य का संप्रेषण होता है। यह ठीक है कि वह संगीत और छन्द-शास्त्र का विवेच्य है—पर उपयोगी तो काव्य का भी है। काव्येतर अभिव्यक्ति भी छन्दोबद्ध होती है—लयात्मकता सारी सृष्टि में व्याप्त है—पर काव्यात्मक अभिव्यक्ति में वह 'सुन्दर सत्य' या 'अनुभूति' की अभिव्यंजना का अंग होता है। अतः यहाँ उस पक्ष को छोड़ा नहीं जा सकता फिर 'लीलागान' करने वाले के सन्दर्भ में किस प्रकार छोड़ा जा सकता है? काव्य शब्दात्मक ही होता है—हो सकता है कुन्तक ने इसीलिए अशब्दात्मक राग, लय, नाद या सांगीतिकता को वक्रता से बाहर रखा है। फिर भी मै उस पक्ष को यहाँ अनुभूति को संप्रेष्य बनाने में उपयोगी होने का कारण लेना उचित समझता हूँ—वैसे नाद भी अव्यक्त शब्द ही है—"णद अव्यक्ते शब्दे"।

सूर काव्य में संगीत योजना तथा छन्द

अव्यक्त शब्द नाद है और व्यक्त शब्द वर्ण। संगीत में नाद का आरोहावरोह है और काव्य में नाद के व्यक्त रूप स्वर-व्यंजन की योजना। काव्य कला पर्याप्त व्यापक है। एक ओर वह मूर्तविधान के लिए चित्रकला की सहायता लेता है और दूसरी ओर नाद सौष्ठव के लिए संगीत का। सांगीतिक तत्व मे वर्ण संगीत, शब्द संगीत, लय और तुक का तो समावेश है ही कुछ और भी हैं—जैसे, संगीत शैलियों का प्रयोग, रागरागिनियों, नृत्य रूपों तथा तालों का प्रयोग। छांदसतत्व का संगीत के ही भीतर विचार आता है। कारण, लय भी स्वर की द्रुत, विलम्बित तथा मध्य गति का ही नाम है और छन्द लय के आधार पर टिका हुआ नाद विधान है—विशेष ढाँचा है।

जहाँ तक कृष्ण भक्ति काव्य का सम्बन्ध है—नाद शब्द ब्रह्म है और कृष्ण परब्रह्म। शास्त्र सिद्धान्त है—

"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"

नाद ब्रह्म द्वारा ही उसकी उपलब्धि होती है। सूर काव्य द्वारा व्यक्त आनन्द तत्व कृष्ण रूप ही है—अतः उस तक पहुँचने के लिए नाद तत्व का

माध्यम सहज और स्वाभाविक है। नन्ददास की 'रूपमंजरी' स्पष्ट कहती है—

"राग के मग ह्वै पिय पै जाय, कोऊ जानै यह कैठी गाय।"[1]

इन भक्तों की अभिव्यक्ति कीर्तनात्मक साधना का अंग थी, अतः मुख्य रूप से ये उन्हें गेय ही रखना चाहते थे। यही कारण है कि इनकी अभिव्यक्ति 'पद' पद्धति पर हुआ करती थी। सूर ने पद ही ज्यादा लिखे है। वैसे यत्र-तत्र छन्दोमयी अभिव्यक्ति भी है। प्रथम पक्ष पर डॉ. उषा गुप्ता ने '**हिन्दी के कृष्णभक्ति कालीन साहित्य में संगीत**' तथा द्वितीय पक्ष पर डॉ. व्रजेश्वरवर्मा ने '**सूरदास**', डा. मनमोहन गौतम ने '**सूर की काव्यकला**' नथा डॉ. सावित्री सिन्हा ने '**व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य' में अभिव्यंजना शिल्प**'—मे मुख्यत. विस्तार से विचार किया है। जिज्ञासु जन विस्तार वहाँ देख सकते हैं। इन्ही के आधार पर संक्षेप में यहाँ कतिपय बातें निवेदित की जा सकती हैं।

इस सन्दर्भ में सबसे पहली बात जो ध्यान देने की है—वह यह कि गेयता पदो में अधिक है—और वे राग रागिनियों वाले विशुद्ध सांगीतिक ढाँचे पर बनते ही हैं। गाने के लिए वैसे छन्दों को भी गाया ही जाता है किन्तु छन्दो मे मात्रा, यति तथा गति का बन्धन रहता है—उन्हें शिथिल नही किया जा सकता—अन्यथा छांदस ढाँचा भंग हो जायगा। कतिपय विवेचक (सिन्हा, वर्मा, गौतम) इस अन्तर से—जहाँ तक सूर का सम्बन्ध है—असहमत हैं। डॉ. सिन्हा का मत है कि इन कवियों के सामने छन्दों विधान की एक निश्चित योजना पद रचना के समय रहती थी। पर साथ ही वे यह भी स्वीकार करती है कि इन छन्दों को गेय बनाने के लिए इन कवियों ने स्वतन्त्रता का प्रयोग किया[2] है। सूरदास ने स्वीकार भी किया है—

व्यास कहे शुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ[3]॥

अथवा— ताते सूर सगुन लीलापद[4] गावै

इस सन्दर्भ डॉ. उषा गुप्ता[5] का कहना ठीक ही है—"प्रत्येक राग स्वरो के माध्यम से भावों को व्यक्त कर विशेष वातावरण की सृष्टि करके विशेष रस उत्पन्न करता है।" राग का अर्थ भी तो भाव ही है। विशेष स्वर विशेष भाव

---

१ नन्ददास ग्रन्थ, पृ. १४२।

२ व्र. कृ. का. अ. शि, पृ. ३४९।

३ सूरसागर, भाग १, पद सं. २२५।

४ वही, पद २।

५ हि. कृ. सा. सं., पृ. २१८।

के व्यंजक तो होते ही हैं। डॉ. सिन्हा के अनुसार लय के प्रयोग दो रूप मे मिलते हैं—शैली निरपेक्ष भावानुकूल लय-योजना तथा शैली-सापेक्ष लय-योजना। सूरदास मे भावानुकूल लय का प्रयोग है। लय स्वर की गति का नामान्तर है और यह त्रिविध है—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। ओजस्वी रसो मे द्रुत लय तथा शृंगार और करुण जैसे मधुर और कोमल रसों में क्रमशः मध्य तथा विलम्बित लय का प्रयोग होता है। सूरदास के वात्सल्य तथा शृंगार के पद अधिकतर मध्य लय में नियोजित स्वर लिपि में निखरते हैं। उदाहरणार्थ,

सोभित कर नवनीत लिए।

घुटुरुन चलत रेनु तन मण्डित मुख दधि लेप किये।

यहाँ मध्यलय की योजना में शब्दों की अधिक खींचतान भी नही है। इसी प्रकार होली की सामूहिक उल्लास की अभिव्यक्ति के सबसे अधिक सहायक (निम्नलिखित पद में निहित) लय गत द्रुतता ही है। बिलम्बित लय का प्रयोग वेदनासिक्त भाव स्थलों के उपयुक्त पड़ता है। सूर के विप्रलम्भ सम्बन्धी पद अधिकतर मध्य लय के होते हैं, पर जहाँ आशा और प्रेमजन्य उल्लास की अपेक्षा विषाद प्रधान है—वहाँ कविता की गति मंथर है। जैसे—"ऊधो जबहिं जाव गोकुलमनि आगे पैयों लागन कहियो।" इत्यादि। सूरदास उपयुक्त वातावरण या प्रभाव की सृष्टि के लिए रागों की प्रकृति के अनुकूल भावों अथवा भावों की प्रकृति के अनुकूल रागों की रचना करते थे। एक बार अकबर ने सूर को अपना यशोगान करने को कहा था—तब राग केदारा में सूर ने गाया था—

> नाहि न रह्यौ मन में ठौर,
> नन्द नन्दन अछत कैसे आनियै उर और।

यहाँ इस पद में निहित भाव के अत्यधिक उपयुक्त है—राग केदारा। इसका विश्लेषण करते हुए डॉ. उषागुप्ता ने लिखा है कि केदारा में कोमल और तीव्र—दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है, शेष सब शुद्ध-स्वर लगते हैं। इसमें स्वरों का ऐसा संयोजन (सा से म-प) रहता है कि उससे एक खिचाव आ जाता है। इस खिचाव की गम्भीरता के कारण राग में तन्मयता का अनुभव होता है। इस तन्मयता में अन्य विषयक भाव आता ही नहीं। गायक इन स्वरों के साथ एकाकार होकर कृष्ण में तन्मय हो जाता है। तीव्र, मध्यम तथा कोमल निषाद के कण ने कवि के हृदय की उस वेदना, करुणा और टीस को भी व्यक्त कर दिया होगा जो अकबर के नर प्रशंसा करने के आग्रह से उत्पन्न हुई होगी। निष्कर्ष यह कि यहाँ भक्ति की ही नहीं, स्वर की भी परम साधना है। जैसा भावमय पद है वैसा ही तन्मयकारी संगीत।

छान्दस सौन्दर्य

कृष्ण भक्त कवियों की तरह सूरदास में भी छन्दो योजना के दो रूप प्राप्त होते हैं : प्रत्यक्ष छन्द विधान तथा गेयपदों में प्रयुक्त छन्द विधान। सूरसागर मे सूर ने अनेक छन्दों को रागरागिनियों और तालों में बांधकर नियोजित किया है। अतएव रागरागिनियों और टेक इत्यादि से पूर्ण रूप से मुक्त छन्दात्मक रचनाएँ सूरसागर में प्रायः नही[1] हैं। डॉ. गोविन्द मिश्र का विचार है कि इनके सभी पद छन्दोबद्ध हे। इन छन्दों में जहाँ तक वर्णवृत्त का सम्बन्ध है केवल मुक्तक दण्डक का प्रयोग है। मात्रिक छन्द दो प्रकार के हैं—तालात्मक और अतालात्मक—दोनों ही यहाँ मिलते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'सूर साहित्य का छन्दः शास्त्रीय अध्ययन' में विस्तार से विवेचन करते हुए यह कहा है कि भावानुकूल छंदों में अपनी वाणी को प्रकट कर और उसे तदनुकूल भावपोषक रागो मे गाकर—सूरदास ने छन्द और राग का जो अन्तरंग सम्बन्ध है—उसका पूर्ण निर्वाह किया[2] है।

पद-बद्ध रचना गायकों ने भी की है और इन कवियों ने भी। गायकों द्वारा रचित पदों पर छन्दःशास्त्र का नहीं, संगीत का अधिकार है। सूर का तो ऐसा कोई पद है ही नहीं, जो छन्दोबिद्ध न हो। उन पदो जो छन्दोबिद्ध होकर राग-रागिनियों में बाँधे गये हैं—उनकी भाव व्यंजकता का विचार तो किया ही जा चुका है। वर्णनात्मक प्रसंगों में अवश्य कुछ छन्द ऐसे हैं— जिनमें संगीत के बाह्य तत्वों का आरोपण कम हुआ है। इन प्रसंगों के छन्द हैं—चौपाई, चौपई, दोहा और रोला। डॉ. वर्मा व्रजेश्वर का इन छन्दों के सम्बन्ध में भी यही माना है।

अनेक प्रकार के छन्दो में अभिव्यक्त समान भाव के लिए एक ही भाव पोषक राग का निर्देश है। एक उदाहरण ले—

माई री ये मेघ गाजै।
मनहुं काम कोपि चढ्यौ कोलाहल कटक बढ्यौ।
बरहा पिक चातक जय जय निसान बाजै॥

प्रस्तुत पद हरिप्रिया छन्द में निबद्ध है। सूरदास जी ने इसको मलार राग में गाने का निर्देश किया है। यह राग वर्षाकालीन है। चूँकि इस पद में मेघ की कल्पना कामदेव के रूप में करनी है—अतः इसे भी मलार राग में ही गाने का निर्देश है। इसी प्रकार मनहरण और सूर घनाक्षरी में निबद्ध मान के प्रसग

१ ब्र. कृ. का. अ. शि., पृ. ४०३।
२ वही, पृ. ५७५।

वाले पदों को उस पूरबी राग में गाने का निर्देश है—जो विप्रलम्भ शृंगार का संध्याकालीन राग है। निष्कर्ष यह कि सूर ने पहले तो भावानुकूल छन्दों मे अभिव्यक्ति प्रदान की है और फिर उसे तदनुकूल भावपोषक रागों में गाने का निर्देश दिया है। इस प्रकार अशब्दात्मक नाद और लय के स्तर पर सूर ने काव्य, छन्द तथा संगीत की नितान्त एकरस तथा समञ्जस व्यञ्जना की है।

वर्ण-वक्रता

अशब्दात्मक राग रूप उपकरण द्वारा प्रतिपाद्य के प्रकाशन विमर्श के अनन्तर शब्दात्मक उपकरण की लघुतम कल्पित इकाई वर्ण आती है। अत इस दृष्टि से वक्रता विधान का विश्लेषण सम्प्रति प्रतिपाद्य है। यह भी कवि के वैदग्ध्य या उसके प्रातिभ सामर्थ्य पर निर्भर है कि वर्णविन्यास में निहित समग्र सम्भावनाओ को वह भाव रस या अनुभूति के प्रभावी प्रकाशन में कितना निचोड़ पाता है। यह भी एक ध्यान देने की बात है कुन्तक ने वर्णवक्रता मे 'वर्ण' को 'व्यञ्जन परक' माना है। स्वर की सम्भावनाओं का रसाभिव्यञ्जन मे कैसा उपयोग है—इसका विचार सांगीतिक तथा छान्दरा पक्ष के सन्दर्भ मे किया चुका है। इस प्रकार वर्णवक्रता को व्यञ्जन वक्रता या व्यञ्जन चारुता भी कहा जा सकता है। व्यञ्जन वर्ण में भावप्रकाशन के साथ वर्ण्य वस्तु को भी चित्रित करने की क्षमता रहती है। अन्य आचार्यों ने इस व्यंजन चारुता के लिए 'अनुप्रास' शब्द का प्रयोग किया है। इसके पाँच रूप मिलते हैं—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य तथा लाट। लाट को कुछ लोग उपचारतः ही अनुप्रास कहते हैं वस्तुतः नहीं। वृत्यनुप्रास के कुछ लोगों ने परुषा, कोमला तथा उपनागरिका—तीन भेद माने हैं जबकि कुछ लोगों ने मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा पाँच भेद माने हैं। इनमें नामानुरूप व्यञ्जन वर्णों का विन्यास रहता है। अग्निपुराणकार ने परुषावृत्ति के अनेक भेद बताये है। कुन्तक ने इन सबका समावेश वर्णविन्यास वक्रता में कर लिया है। चित्र और संगीत दोनों द्वारा उभारा जाने वाला काव्योचित सौन्दर्य वर्ण विन्यास द्वारा सम्पन्न हो सकता है—यदि कवि समर्थ है। दूसरी ओर कोमल वर्ण माधुर्य गुण को उभारता हुआ मधुर रस की व्यञ्जना करता है और कटु वर्ण ओज गुण की व्यञ्जना करता हुआ ओजस्वी रसों का उत्कर्ष बढ़ाता है। सूर राग और सौन्दर्य के कवि हैं—अतः तदनुरूप स्थलों में वर्ण नाच-नाच उठते हैं।

वर्ण योजना विभिन्न सरणियों से भाव का प्रकर्ष करती है—यदि भावप्रकर्ष प्रतिपाद्य है। वह कभी अलंकार का अंग बनती है, कभी सांगीतिक प्रभाव पैदा करती है और कभी गुणों का प्रकाश करती है। विचारकों का एक दल ऐसा भी है जो शब्दालंकार या अनुप्रास (वर्ण योजना) को भावाभिव्यक्ति की दृष्टि

से अन्तरंग बताता है। अन्तरंगता की व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि मधुर वर्णों की आनुप्रासिक योजना माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति द्वारा तथा ओजस्वी वर्णों की आनुप्रासिक योजना द्वारा ओज गुण की अभिव्यक्ति कर भाव-निष्पत्ति या रस-निष्पत्ति में प्रकर्ष पैदा करती है। माधुर्य गुण के उद्रेक द्वारा सम्भोग शृंगार की कैसी उत्कृष्ट व्यञ्जना है—वृत्यनुप्रास द्वारा—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट लटकनि भृकुटि मटकनि नारि मन सुख देत॥

अथवा

दूरि दूरि देखत नैननि सैन। मुसकी हँसी कहत मृदु बैन।

अथवा

बाल सुभाव विलोल विलोचन चोरति चितहि चारु चितवनियाँ

इसी प्रकार ओजगुण की व्यञ्जना में निरत आनुप्रासिक वर्ण योजना देखें—

झहरात झहरात दवा (नल) आयौ।

× × ×

झपटि अपटत लपट, फूल फल चट चटकि लट लटकि द्रुम [illegible] नवायौ॥

यहाँ जहाँ एक ओर ओजोव्यंजक वर्ण योजना द्वारा भयानक [illegible] व्यञ्जना में प्रकर्ष लाया गया है उसी प्रकार दूसरी ओर वर्ण्य का चित्र भी ध्वनियोजना से साकार कर दिया गया है। लगता है जैसे पाठक के कान आग लगने से उत्पन्न चट-चट का शब्द सुन रहे हों। आग के जलने की आवाज को अनुकरणात्मक शब्द (चट-चट) के अनुरूप आनुप्रासिक योजना द्वारा व्यक्त किया गया है।

रही दूसरी बात, वर्ण योजना द्वारा सांगीतिक प्रभाव उत्पन्न कर भाव प्रकर्ष करने की, सो उस दृष्टि से स्वर योजना द्वारा तो देखा जा चुका है—व्यञ्जनात्मक आनुप्रासिक वर्ण-योजना द्वारा वह कहाँ तक सम्भव है यह भी देखना चाहिए। संगीत में गान के अतिरिक्त नृत्य और वाद्य भी आता है। 'नृत्यत स्याम स्यामा हेत'—पद में नृत्य की मुद्राओं के चित्र, घुंघरू की छम-छम तथा वाद्य यन्त्रों की झनकारें क्रमशः आनुप्रासिक वर्ण-योजना द्वारा कितनी सुस्पष्ट रूप में व्यक्त है। इसी प्रकार डॉ. उषा गुप्ता ने—

मानो भाई घन घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि ब्रज भामिनि॥

की प्रस्तुत सन्दर्भ में बड़ी सुन्दर व्याख्या[1] की है। कहा है—"कृष्ण भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्य में कर्ण कटु शब्दों के परिष्कार, संयुक्त वर्णों के अभाव,

---

१ वही, पृ. ३१३।

शब्दों के लोच युक्त रूपों तथा व्रजमण्डल के लोक प्रचलित ग्रामीण प्रयोग री, एरी, अरी आदि शब्दों के प्रयोग बाहुल्य, अनुस्वार युक्त दीर्घ स्वरों के संयोग, ध्वनि सौन्दर्य, देशज तथा अनुप्रास के सुन्दर समावेश से ही अत्यधिक मधुर व्रजभाषा के द्वारा जिस अपूर्व संगति का झंकार पैदा की है—उसकी लहरियाँ चिरकाल तक वांछित भावावेश उत्पन्न करने में समर्थ रहेगी।''[1] इस प्रकार आनुप्रासिक वर्ण-योजना द्वारा नृत्य-वाद्यानुरूप सांगीतिक प्रभाव तो उत्पन्न होता ही है– गान के अनुरूप भी होना है। डॉ. उषा गुप्ता की यह भी धारणा है ''लय पर नियन्त्रण करने और पदों की सांगीतिकता तथा नाद सौन्दर्य की वृद्धि में तुक अथवा अन्त्यानुप्रास—जो व्यञ्जन घटित होता है—अत्यधिक सहायक होता है। पद्य के चरणान्त की अक्षर मैत्री को तुक या अन्त्यानुप्रास कहते[2] हैं।'' तुक द्वारा सांगीतिक प्रवाह में ज्वार-भाटे आने लगते हैं। सुधांशुजी ने ठीक कहा है—''तुकान्त का प्रभाव भी कुछ ऐसा होता है कि वह चरण के मध्य की स्वर भिन्नता को दबाकर अन्त में स्वर को एक ताल पर बैठा देता है। हृदय की लयात्मक प्रवृत्ति से अन्त्यानुप्रास या तुकान्त का इतना सामञ्जस्य होता है कि पदोच्चारण के पहले ही विवक्षित पदान्त की कल्पना से सम पर मस्तक झुक जाता[3] है।'' कविवर पन्त का कहना है—''तुक राग का हृदय है। जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी चक्र में केन्द्रित रहती हैं जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति संचार करती हैं। जो स्थान ताल में सम का है वही स्थान छन्द में तुक का[4] है।'' आचार्य शुक्ल जी नाद सौन्दर्य के लिए तुक विधान आवश्यक मानते ही हैं। निष्कर्ष यह कि व्यंजन-गर्भ तुक का भी गान में उपयोगिता है।

वर्ण-योजना के सन्दर्भ में अनुप्रास के अतिरिक्त वर्ण-मैत्री तथा वर्ण-संगति का भी विचार आवश्यक है। वर्ण-मैत्री समान कोटिक वर्णों के विन्यास से उत्पादित पदावलीगत समता है। अनुप्रास की भाँति वर्णावृत्ति यहाँ अनिवार्य नहीं है। सूरदास में अनुप्रास की अपेक्षा वर्ण-मैत्री का आग्रह अधिक है। वर्ण-मैत्री का ही प्रसार वर्ण संगति मे होता है। वर्ण-मैत्री का सम्बन्ध केवल निकटस्थ शब्दों के वर्णों से होता है जबकि वर्ण-संगति का सम्बन्ध पूरी पंक्ति

---

१ वही, पृ. ३२८।
२ वही पृ. ३३६।
३ वही, पृ ३३६।
४ वही, पृ. ३३६।

या पदगत वर्णों से होता है। डॉ. मनमोहन गौतम के अनुसार 'दसहुँ दिशा दुसह दावाग्निनि' में अनुप्रास है, 'जनि-जिय' में वर्ण मैत्री है तथा "नवल निकुंज नवल नवला मिलि नवल निकेतन रुचिर बनाये" में वर्ण-संगति।[1] पर अनुप्रास का ही रूपान्तर है यह वर्ण-मैत्री तथा वर्ण-संगति। इनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व समझ में नहीं आता।

काव्येतर तथा काव्य के सन्दर्भ में प्रयुक्त शब्दों में यही अन्तर बताया गया है कि प्रथम का विषय जाति और द्वितीय का विषय व्यक्ति, बिम्ब या संश्लिष्ट चित्र। और वह भी इसलिए कि ग्राहक का हृदय प्रभावित हो—भाव का अनुभव करे। भाव का 'विशेष' से ही सम्बन्ध है, सामान्य से नहीं। सामान्य का उपयोग तो चिन्तन में बुद्धि करती है। इसीलिए क्रोचे ने स्वयं प्रकाश तथा तर्काश्रित ज्ञानों का अन्तर इसी दिशा में किया है। यह चित्रात्मकता किसी भी इंद्रिय से ग्राह्य हो—काम स्वर तथा व्यंजन एवं तद् घटित शब्द और वाक्य ही करेंगे। अभी तक अर्थ निरपेक्ष स्वर या व्यंजन वर्णों की योजना की दृष्टि से अभिव्यक्ति पर विचार किया गया है। संप्रति शब्द के उस टुकड़े पर चलें जो लघुतम, पर सार्थक इकाई के रूप में माना जाता है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसे 'रूप' तथा व्याकरणिक दृष्टि से प्रकृति-प्रत्यय कहा जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से वक्रता विधान के सन्दर्भ में इसे पद पूर्वार्द्ध वक्रता तथा पद परार्द्ध वक्रता कह सकते हैं।

पद-पूर्वार्द्ध वक्रता या प्रकृति-वक्रता

पद पूर्वार्ध प्रकृति है—यह प्रकृति भी दो प्रकार की है—प्रातिपदिक तथा धातु। इस वक्रता विधा में जिस सहृदयता प्रेरित विदग्धता, विचित्रता या वक्रता का समुन्मेष होता है उसकी कोई नियत संख्या नहीं है—तथापि कुन्तक ने निम्नलिखित भेदों का उल्लेख किया है—(१) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता (२) पर्याय वक्रता (३) उपचार वक्रता (४) विशेषण वक्रता (५) संवृत्ति वक्रता (६) प्रत्यय वक्रता (७) आगम वक्रता (८) वृत्ति वक्रता (९) लिंग वक्रता (१०) क्रिया वैचित्र्य वक्रता।

इन सभी वक्रता विधाओं का महत्व वाच्यातिरिक्त अभीष्ट अर्थ के अनुकरण मे है। आनन्दवर्द्धन की दृष्टि से विचार करें तो वक्रता की इन विधाओं में शब्द के सामर्थ्य (लक्षणा—व्यञ्जना) परीक्षण की बात आती है। सौन्दर्य अभिधा में नही होता --सो बात नही। यह सब कुछ कवि की क्षमता पर निर्भर करता है। कालिदास की अभिधा-निवेदित उपमा श्रीहर्ष की व्यञ्जना-निवेदित (वाच्य उत्प्रेक्षा

---

१ सूर की काव्य कला पृ १०२।

मे निहित) उपमा से सुन्दर सिद्ध हुई है। आनुपातिक दृष्टि से सूर में अभिधा का प्रसार है। वर्णनात्मक स्थलों और सारावली दोनों में अभिधा ही है। अभिधा के माध्यम से प्रस्तुत चित्र का सौन्दर्य देखें—

भहरात झहरात दावानल आयौ।

झपटि झपटत लपट, फूल-फल-चट-चटकि लट-लटकि द्रुम दल नवायौ॥

यहाँ अभिधा के ही बल पर पूरा चित्र उभारा गया है। रूप सौन्दर्य के तमाम उदाहरण अभिधा के हैं। पर लक्षणा और व्यञ्जना पर आधारित पद वक्रता विधानों की छटा दर्शनीय है। इनकी वाग्धारा पद-वक्रता के प्रभेदों के रूप में विभिन्न मोड़ लेती चलती है। पर्यायवाची शब्द अपनी अभिधेयार्थकता मे अभिन्न होते हुए भी अतिरिक्त अर्थ-झंकृतियों की दृष्टि से सर्वथा भिन्न पड जाते हैं। सूर की प्रतिभा इन झंकृतियों का साक्षात्कार करने में समर्थ थी, यही कारण है कि अपने आराध्य के विभिन्न पर्यायवाचियों में से प्रासंगिक महत्ता किस पर्याय की है—यह समझकर प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए, कृष्ण के पर्यायवाची शब्द हैं—कृष्ण, कान्ह, हरि, गोपाल, माधव, मोहन आदि, पर प्रसंग विशेष मे पर्याय विशेष का ही प्रयोग है। कारण, वही उसकी काव्योचित चारुता है। वात्सल्य के प्रसंग में जब वे और शब्दों के पर्यायों को छोड़कर 'कान्ह' का ही प्रयोग करते हैं, तब उसमें से शैशव, सौकुमार्य, लाड़लेपन तथा सहजता की अर्थझंकृतियाँ सुनायी पड़ने लगती हैं और प्रसंग में चारुता उभर आती है :

कान्ह लै जसुमति कोरा तै रुचिकर कंठ लगाए।

जहाँ शृंगारोचित प्रसंग है, वहाँ 'कान्ह' के बदले 'नवल किशोर', 'रति-नागर' और 'रसिक सिरोमनि' जैसे पर्याय मिलेंगे :

नवलकिसोर किसोरी बोऊ आवत हैं रति रंग अनुरागे।

संज्ञा शब्दों के अनन्तर विशेषण और सर्वनाम शब्द भी आते हैं। विशेषणो मे विशेषणवक्रता, सर्वनाम में संवृतिवक्रता तथा क्रियापदों में उपचारवक्रता देखने को मिलती है। उपचारवक्रता सादृश्यमूलक भेदप्रतीति के स्थगन में लक्षित होती है। यह क्रिया में भी हो सकती है—अन्यत्र भी। विशेषण नाम की विशेषता तो उभारते ही हैं, क्रिया की विशेषता भी उभारते हैं, अतः विशेषण के उभयविध प्रयोगों में वक्रता उभरती है। सूर ने भावावेश में ऐसे विशेषण भी प्रयुक्त किये हैं। चित्र मे मर्मी चित्रकार के द्वारा कहाँ और किस तरह की बिन्दु रेखा डाल देने से अभीप्सित प्रभाव उभारा जाता है ठीक उसी प्रकार काव्य में भी विशेष से अभीष्ट प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए विशेषण का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः विशेषण के प्रयोग से कवि का कवित्व पहचाना जाता है। जैसे, **'अँखियाँ हरिदरसन की प्यासी'**, **'हरिदरसन की भूखी'**, **'निसदिन रहत उदासी'** आदि।

इन प्रयोगों में विशेषणों का प्रयोग विधेय रूप में किया गया है। भूखे और प्यासे तथा उदासे चेतन की सारी छाया आँखों में उभर आती है और ये छायाएँ हृदय की वृत्तियों को उद्रिक्त करती है और इस तरह सारे अभीष्ट प्रभाव उभार दिये जाते हैं। विशेषणों के इन्हीं काव्योचित प्रयोगों को विशेषण-विपर्यय कहा जाता है। विशेषणवक्रता और 'परिकर' का काम तो एक ही है, पर पहला विदग्ध प्रयोग है और दूसरा चामत्कारिक। संवृतिवक्रता में सर्वनामों की काव्य-चरुता द्रष्टव्य होती है। अभिव्यक्ति के और ढंग जब असमर्थ हो जाते हैं तब सर्वनाम बड़ी सहायता करते हैं—जैसे, वे आँखें आज भी याद आ रही हैं। सूर ने भी कहा है :

यह मुरली सखि ऐसी है।[1]

पदपूर्वार्धवक्रता की भाँति पदपरार्धवक्रता भी सूर की भावुकता उपस्थापित करती है। लिंगवैचित्र्यवक्रता तथा कालवैचित्र्य वक्रता आदि का इसमें समावेश है :

तृन की आग बरत ही बुझि गई हंस हंस कहत गोपाल।

जब वर्ण्यगत पौरुष व्यक्त करना था, तब सूरदास ने दावानल शब्द का प्रयोग किया था, पर जब उसी आग की निरीहता और दुर्बलता व्यक्त करनी हुई तब स्त्रीलिंग में 'आग' शब्द का प्रयोग किया।

वक्रताओं के इन कतिपय प्रयोगों के माध्यम से तो शब्दशक्तियों—लक्षणा और व्यंजना—का सौन्दर्य निरूपित किया गया। स्वतन्त्र रूप से भ्रमरगीत तथा अन्य प्रसंगों में भी व्यञ्जना के वैदग्ध्य-व्यञ्जक प्रयोग मिलेंगे। वहाँ भाव-प्रेरित उक्तियों में वस्तु, अलंकार तथा भावव्यंजना के शतशः सहस्रशः प्रयोग भरे पड़े हैं।

शब्द की शक्ति शब्द-प्रयोक्ता ही पहचान पाता है और पहचान कर प्रयोग करता है। विदग्धकवि में जहाँ एक ओर यह प्रत्यभिज्ञानशक्ति विदग्ध प्रयोगों द्वारा काव्यचारुता उत्पन्न करती है वहीं दूसरी ओर उसकी कल्पनाशक्ति भी प्रयोगों के माध्यम से रमणीयता की पखुड़ियाँ अनावृत करती हैं। जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञान शक्ति अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना के माध्यम से अनेकधा कविगत वैदग्ध्य का प्रयोगगत वक्रता के माध्यम से स्वानुभूत सौन्दर्य का प्रकाशन करती है उसी प्रकार कवि की कल्पनाशक्ति हार्दिक सौन्दर्य तथा बौद्धिक चमत्कार की व्यञ्जना भी विभिन्न रूपों में करती है।

कुन्तक ने कहा है कि जब यही कल्पना वाक्यवक्रता के माध्यम से साकार

---

१ सूरसागर, १८७७।

होती है तब अर्थालंकारों की सृष्टि होती है। इस वाक्यवक्रता को वे वाच्यवक्रता या वस्तुवक्रता भी कहते हैं। उन्होंने बताया कि काव्योचित वस्तु का सौन्दर्य कभी सहज होता है और कभी आहार्य। आहार्य शोभा मात्र अलंकार योजना से होती है इसे अभिव्यंजना का कौशल कहा जा सकता है। कवि-कल्पना कभी तो वस्तु स्वभाव में निहित सौन्दर्य को उभार कर ऊपर ला देती है और कभी-कभी आलंकारिक उपादानों में आरोपित कर देती है। वर्ण्य या तो **भाव** हो सकता है या वस्तु और व्यक्ति का **स्वभाव**। स्वभाव यदि सहज सुन्दर है तो कल्पना केवल उसे उभार भर देती है और यदि वैसा नहीं है तो कल्पना आनीत आलंकारिक उपकरणों से उसे सजा दिया जाता है। बहरहाल, वर्ण्य से अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने की दिशा में कल्पना यही सब करती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से कल्पना सामर्थ्य का पर्याय ही है। कुल मिलाकर यह कवि की समर्थता या सामर्थ्य शक्ति ही है, जो काव्य सृष्टि खड़ी करती है। अतः जहाँ तक वाक्यवक्रता के अन्तर्गत सहज वस्तुवक्रता का सम्बन्ध है—उसके उदाहरणों से वात्सल्य तथा दाम्पत्य के अगणित उदाहरण भरे पड़े हैं। मैं यहाँ केवल आहार्य वस्तुवक्रता के सम्बन्ध में कुछ बातें करना चाहता हूँ। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है। सूर की अलंकार-योजना सौन्दर्याधान में अधिकांश साधक है, बाधक कम ही स्थानों पर है। कूट पदों में अलंकारों का सायास प्रयोग है।

सूर का विषय ही ऐसा है कि उन्हें सादृश्यमूलक अलंकार अधिक अनुकूल पड़े हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में भी उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का विधान सर्वाधिक है। इन सभी स्थानों की अप्रस्तुत योजना सादृश्य पर तो आधृत है ही, कहीं-कहीं विरोध पर भी समाधृत है। यह अलंकरण सामग्री सीमित है, अतः आवृत्त भी। इनके प्रयोग में वैविध्य अवश्य है—यत्र-तत्र अप्रस्तुतों की अन्तरात्मा में ही परिवर्तन कर दिया गया है। सूर की अभिव्यक्तियों में सांग-रूपक का प्रयोग खूब मिलता है और ये प्रयोग विनय, रूपवर्णन, नखशिख, दानलीला और भ्रमरगीत में प्रचुर रूप से उपलब्ध हैं। विनय के प्रसंग के रूपक परम्परागत हैं पर रूपवर्णन के रूपकों में कल्पना की छवि मुखर है। सुन्दरता-सागर, शोभासिन्धु तथा कामतड़ाग एक ही सांगरूपक के भिन्न-भिन्न रूप हैं। संयोग शृंगार में रतिरन रूपक और वियोग शृंगार में विरहवन रूपक भी उल्लेख्य है। मानिनी राधा का मानसर रूपक भी इसी धारा की एक तरंग है। सादृश्यमूलक अलंकारों में सर्वाधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा का है। रूपक में तुलसी, स्वरूपोत्प्रेक्षा में सूर तथा हेतूत्प्रेक्षा में जायसी उल्लेख्य हैं। इनकी उत्प्रेक्षाएँ

स्वतन्त्र तो हैं ही, उपमा, प्रतीप, व्यतिरेक तथा रूपक के अंग रूप में भी प्रयुक्त हैं। इनकी कल्पनाशक्ति का चमत्कार इन उत्प्रेक्षाओं मे है। इन प्रयोगो मे जहाँ परम्परा से मुक्ति है वहाँ नवीनता स्पष्ट है। एक उदाहरण लें :

जा चरनारबिन्द के रस को सुर मुनि करत विवाद।
सो रस है मोहूँ को दुरलभ, ताते लेत सवाद।

यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है और यह कल्पना नयी है। शिशुकृष्ण अपना ही चरण क्यो चूस रहे हैं—इसका कारण निर्देश उत्तम है।

सूर की कल्पना का जटिलतम और सायास रूप उनके दृष्टिकूटों में मिलता है। इसी दृष्टिकूट शैली में उन्होंने नायिका भेद, अलंकार तथा रस तक के विषय समाविष्ट किये हैं। यहाँ कल्पना का साधारण नही, असाधारण रूप है। वैचित्र्य प्रदर्शन ही यहाँ लक्ष्य है। शब्दार्थ का इन्द्रजाल देखना हो तो दृष्टिकूट देखें।

वाक्यवक्रता के अनन्तर प्रकरणवक्रता आती है। प्रकरणों की ही जहाँ परम्परा से हटकर अन्यथा अथवा सर्वथा नवीन उद्भावना हो, वहाँ प्रकरण-वक्रता होती है। वैसे प्रकरणवक्रता प्रबन्धवक्रता का अंग है, पर सूर का 'सागर' प्रबन्ध रूप मे संकलित नहीं है, यत्र-तत्र कृशधारा के प्रवाहवश कहीं-कहीं उसका आभास हो जाय, यह बात दूसरी है। तथापि भ्रमरगीत और बाललीला के प्रसंगों में इसका पूरा प्रकरण ही उद्भावित है, अतः वहाँ प्रकरणवक्रता की बात कही जा सकती है। प्रबन्धवक्रता सम्भव ही नही है।

इस प्रकार यद्यपि कुन्तक की वक्रता विधाओ को आधार बनाया गया है और उसी दृष्टि का कलाविवेचन में संचार किया गया है तथापि यह ध्यान रखने की बात है कि सूर की वक्रोक्ति-योजना कुन्तक के ढाँचे पर नही, अपने ढाँचे पर है। कुन्तक निरूपित वक्रताओं में से वर्णवक्रता, वाक्यवक्रता तथा प्रकरण वक्रता तो ज्यों की त्यों ढूंढ़ी जा सकती है, पर पदवक्रता की विधाओं का उसी 'स्पिरिट' में प्रयोग कम है। कारण, ये प्रयोग लक्षणा और व्यञ्जना पर समाधृत हैं—जबकि सूर का अधिकांश काव्य-सौन्दर्य अभिधामुखी है। कारण, वे सहज और सरल हृदय के कवि हैं। भावावेश में तो वाणी स्वयं 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकिणी' हो जाती है, अतः अभिधा भी व्यावहारिक स्तर की अभिधा से कुछ और अर्थात् 'वक्र' ही मानी जा सकती है। पर ये सब बातें वहाँ के लिए हैं जहाँ उनकी प्रतिभा अपने आराध्य मे तल्लीन हुई हैं—जहाँ चालू विवरणात्मक कथा है, या दार्शनिक निरूपण है अथवा साम्प्रदायिक विवरण है—वहाँ नही। निष्कर्ष यह कि प्रतिभा को लीन करने वाली आराध्य की स्थिति जहाँ है वहाँ वाणी की वक्रता की स्थापना यदि कुन्तक सम्मत अर्थ मे भी की जाय तो कोई विशेष क्षति नही है।

सूर की भाषा—व्याकरणिक पक्ष

श्री मुख चारि स्लोक हुए ब्रह्मा कों समुझाइ ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ ।
व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कन्ध बनाइ ।
सूरदास सोई कहे पद 'भाषा' करि गाइ ।

भारतीय संस्कृति शाश्वत तत्वों को समय की धूल पड़ जाने पर नयी भाषा शैली में उसे युगीन सम्भावनाओं के साथ पुनः प्रस्तुत करती है । सूर ने भी वही किया । सूर ने जिसे माध्यम बनाया—वह है—'भाषा' । तुलसी ने भी 'भाषा' में ही 'मानस' जैसा मंजुल निबन्ध लिखा था । कबीर ने 'भाषा' को बहता नीर कहा है और व्याकरणबद्ध संस्कृत को कूप जल । परवर्ती भाषाविद् आलोचकों ने सूर, तुलसी, कबीर और जायसी आदि की 'भाषा' को सविशेषण बनाकर पृथक्-पृथक् किया, अन्यथा वे लोग 'भाषा' में ही लिखते थे । परवर्ती भाषाविदों ने सूर की 'भाषा' को व्रजभाषा संज्ञा दी, पर इतना से ही विशेषीकरण का अन्त नहीं हुआ । आगे चलकर यह भी कहा गया कि सूर की भाषा 'चलती' है, न कि बिहारी की तरह 'साहित्यिक' अथवा घनानन्द और रसखान की तरह 'शुद्ध' । 'शुद्ध' में 'बीन-बरा' कर चला जाता है—इसका ध्यान रखा जाता है कि उसमें विभिन्न भाषाओं के शब्दों का घोल-मेल न हो । प्रसिद्धि ही है—

तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार ।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ॥

तुलसी और गंग जैसे दिग्गज कवियों की 'भाषा' भी शुद्ध नहीं थी—उसमें विविध प्रकार की भाषा मिली हुई है ।

असल में बात यह है कि 'व्रजी' जिस कुल की भाषा है वह काव्य भाषा का प्राचीन कुल है । पं. विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने ठीक कहा है कि मध्य देश संस्कृति का केन्द्र था और शूरसेन प्रदेश मध्य देश का हृदय है । इसी से व्रजभाषा का क्षेत्र विस्तृत था । मध्यकाल का हर हिन्दी कानकार इसी भाषा का प्रयोग करता था । हिमालय की तराई से लेकर विन्ध्य के उत्तरी छोर तक और राजस्थान के पूर्वी भाग या गुजरात से लेकर मगध के डाँड़े और असम तक भी साहित्य में इसी भाषा का एकाधिकार था । जिस भाषा का व्यवहार इतनी दूर तक हो, उसमें विभिन्न प्रदेशों के शब्दों का प्रयोग सहज है । इसीलिए भिखारीदास ने कहा था—

"व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानो ।"

व्रजभाषा के ज्ञान के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि वह व्रजमण्डल

या व्रजप्रदेश (मथुरा, आगरा, वृन्दावन, अलीगढ़ तथा हाथरस) का हो प्रत्युत व्रजभाषाबद्ध साहित्य से भी परिचित हो। अधिकतर समय तक और अधिकतर व्रजभाषा का प्रयोग बुन्देलखण्ड तथा अवध प्रान्त के कवियों ने ज्यादा किया— इसीलिए इस साहित्य प्रयुक्त भाषा में इनके शब्द और प्रयोग भी मिल गये। अवधी पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत है और बुन्देली तथा व्रजी पश्चिमी के। फलतः अवधी और व्रजी की प्रकृति भिन्न है। एक ही शब्द कभी-कभी अवधी मे भिन्न और व्रजी में भिन्न अर्थ रखते है। भाषा की शुद्धता पर ध्यान रखने वाले इस बात का ख्याल रखकर चलते हैं—न ध्यान रखने वाले इस अन्तर को नजर अन्दाज कर देते हैं। विहारी और घनानन्द की भाषा के साक्ष्य पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है। विवशता हो या स्ववशता, विहारी मे पूर्वी प्रयोग मिलते हैं, घनानन्द में यह बात नहीं मिलेगी। अस्तु !

प्रसंग सम्बद्ध बात यह है कि सूर की भाषा चलती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की धारणा है कि चलती हुई व्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्ही की है जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। इस आश्चर्य को दूर करने के लिए अनुसन्धायकों ने 'सूर पूर्व व्रजभाषा' के स्वरूप की खोज-बीन की, फलतः आश्चर्य कुछ कम हुआ। कविवर श्री विष्णुदास कृत राम और कृष्णपरक प्रबन्ध काव्यों की 'भाषा' ने अब इस आश्चर्य को समाप्त कर दिया है और साथ ही 'भाषा' जैसी सामान्य संज्ञा का मर्म भी उद्घाटित कर दिया है। पं. हरिहरनिवास द्विवेदी इसे 'ग्वारियरी' नाम देते हैं।

अस्तु ! सूर की भाषा 'चलती' होने पर भी 'साहित्यिक' है। इसमें न केवल और प्रान्तों के कुछ प्रचलित शब्द और प्रत्ययों के प्रयोग है, अपितु पुरानी काव्य भाषा अपभ्रंश के शब्द भी उपस्थित हैं। मतलब यह कि इनकी भाषा बिल्कुल बोलचाल की भाषा नहीं है। इसमें जहाँ एक ओर 'जाकों' 'जासों' 'ताको' जैसे चलती व्रजभाषा के शब्द हैं वैसे ही 'जेहि', 'तेहि' आदि पुराने रूपों का भी प्रयोग है। 'जेहि', 'तेहि' अवधी में तो अब भी है, पर व्रज में तो सूर के समय में भी नहीं थे। इतना ही नही, 'गोड़' 'आपन' 'हमार' जैसे पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं। 'मँहगी' के अर्थ में 'प्यारी' शब्द का पंजाबी प्रयोग भी मिलता है। गुजराती का 'वियो', सिद्धान्त निरूपण तथा अप्रस्तुत योजना के प्रसंगों में संस्कृत के तत्सम शब्द, अन्य स्थलों मे तद्भव, अर्धतत्सम, अरबी, फारसी के अमीर, खसम, जबाब, मुसाहिब, मुहकम, आदि के साथ व्रज के ठेठ शब्दों का भी ग्रहण है। एक तरफ इस ग्रहणात्मिका प्रकृति से व्रजभाषा के व्यापक काव्यभाषा होने का प्रमाण मिलता है और दूसरी ओर सौन्दर्य भावों और छन्द की अविच्छेद समता से साहित्यिक होने का भी। सूर की भाषा की

ये विशेषताएँ स्पष्ट करती है कि एक ओर उसमें ब्रज के बोलचाल के प्रयोगों से उसमें **चलतापन** है तो दूसरी ओर क्रमागत रूपों के समावेश तथा सौन्दर्य स्रोतों के प्रयोग से साहित्यिकता और तीसरी ओर इतर प्रदेशों की शब्दावली और रूपों के समावेश से व्यापकता भी। सूर कबीर और बिहारी आदि की भाँति विविध प्रदेशों में न जा सके थे। अपितु सीही, रुनकता तथा पारसौली में ही रह गये—अतः चलती ब्रजी का प्रयोग तो स्वाभाविक ही है। साहित्यिकता उनकी प्रतिभा से भी आ सकती है, पर व्यापकता परम्परा से मिली थी या इसके तात्कालिक साहित्यिक रूप में ही थी—या मौखिक रूप में थी? अब पाठालोचन तथा नये अनुसन्धान से स्पष्ट है कि सूरपूर्व ब्रजभाषा न केवल मौखिक परम्परा में अपितु साहित्यिक परम्परा में भी अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में स्वीकृत थी।

इधर 'सूर की भाषा' पर कई तरह से प्रकाश डाला गया है। जहाँ एक ओर डॉ. प्रेम नारायण टण्डन ने 'सूर की भाषा' पर काम किया है, वहीं अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने सूर का शब्द-कोष भी तैयार कर दिया है और साथ ही जवाहरलाल चतुर्वेदी, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. हरदेव बाहरी, पं. सीताराम चतुर्वेदी आदि ने पाठ सम्पादन तथा अर्थापन के माध्यम से सूर-सामग्री को स्वच्छ और प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया है—इन सबके आधार पर सूर की भाषा का भाषा वैज्ञानिक और व्याकरणिक अध्ययन और सुचारु रूप से किया जा सकता है।

ध्वनि पक्ष——ं

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ए, आ, औ, ए = अए, ओ = अओ

व्यंजन—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प,
फ, ब, भ जैसी निरनुनासिक ध्वनियाँ
अनुनासिक—(ङ्) (ञ्) (ण) न (न्)
अनुस्वार— ं
अन्तःस्थ—य, र् (र्ह) ल (ल्) व
ऊष्म—(श)
नयी ध्वनियाँ—ड़, ढ़्

ध्वनि समूह का जो यह विवरण दिया गया है, उसमें जिन्हें कोष्ठक के अन्तर्गत लिया गया है—वे अप्रधान है और शेष प्रधान हैं। सामान्यतः सूर की भाषा में ये ध्वनियाँ प्रयुक्त हैं। 'ऋ' कहीं-कहीं ऋ (ऋतु) और कहीं-कहीं रि (रिचा—रितु) है। कहीं-कहीं स्वरों के अनुच्चारित तथा लघूच्चारित रूप भी मिलते है और ऐसा वहाँ होता है जहाँ चरण की मात्रा पूर्ति हो जाती है और

'अ' के उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती—'क्यों ऽव'। कहीं-कहीं दो स्वर तक अनुच्चारित मिलते हैं। कहीं-कहीं छन्दोनुरोध से 'लघूच्चारण भी हैं—दीर्घ-स्वरों के—ऐसी बहुत सी विशेषताएं हैं।

रूप-रचना—व्याकरण की दृष्टि से दूसरा पक्ष है—शब्द (संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण तथा अव्यय) भेदों की रूप-रचना और उसकी परीक्षा। शब्द भण्डार की ऊपर थोड़ी चर्चा की गयी है—पर किसी कवि की माला की प्रकृति की परीक्षा उसके शब्द-भण्डार से उतनी नहीं होती, जितनी उसकी व्याकरणिक संरचना से। शब्द किसी भाषा के हों, पर प्रयोक्ता उसे अपनी भाषा के व्याकरणिक ढाँचे में ही ढालकर रखता है। हाँ, बोली जब साहित्यिक रूप ग्रहण करती है तब उसमें थोड़ा परिष्कार अवश्य रहता है। सूर के द्वारा जो परिष्कार किये गये, वे व्रजभाषा के सामान्य गुण मान लिये गये।

जहां तक संज्ञा शब्दों का सवाल है, वे सबके सब स्वरान्त ही हैं। इन स्वरान्त रूपों में उकारान्त तथा औकारान्त रूपों में सूर की निजी छाप है, शेष स्वरों से अन्त होने वाले रूप बोली के यथावत् हैं। उकारान्त रूपों में वपु, धेनु, तनु सूर के निजी प्रयोग हैं और इसी सादृश्य पर अव्यय शब्दों में भी उकार का समावेश कर दिया गया है—नेकु, विनु, मनु आदि। सम्भव है आरम्भ में यह विशेषता वर्ण-मैत्री के लिए आयी हो और बाद में स्थायी बन गयी हो। व्रज के शब्दों की प्रकृति 'ओकारान्त' रहने की है, पर सूर ने उन्हें 'औकारान्त' कर दिया है। निहोरौ, मीठौ, झगरौ—आदि मे यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। संज्ञाओं के बहुवचन के रूपों में सूरसागर में दो ही रूप मिलते हैं—(१) शब्दों के अन्त मे 'नि' या (२) याँ अथवा आँ जोड़कर—जैसे, सखियनि, आँखियाँ, नैनाँ। व्रज के परवर्ती रूप में न, न्ह, नु के भी प्रयोग मिलते हैं—जो सूरसागर में नहीं हैं।

सर्वनामों के प्रायः प्रचलित रूप ही मिलते हैं। उत्तम पुरुष मे 'मैं' की जगह बोलचाल के रूप 'मे' या 'मई' का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार असाहित्यिक 'हों' या 'हूँ' का भी नहीं होता, 'मो' और 'मोय' के भी बोलचाल वाले रूप अनुपलब्ध हैं। उत्तम पुरुष के सम्बन्धकारक के अवधी रूप भी (हमार) कहीं-कहीं छन्दोनुरोध से मिलते हैं। मध्यम पुरुष के रूप उत्तम पुरुष के समानान्तर ही हैं—विकारी तथा अविकारी—दोनों। अन्यपुरुष—दूरवर्ती निश्चयवाचक में केवल साहित्यिक रूप ही मिलते हैं—वह, वे, वै (मूलरूप) विकृत रूप—वा, उन। इसी प्रकार निश्चय, अनिश्चिय, सम्बन्ध, प्रश्न तथा नित्य सम्बन्ध वाचक सर्वनामो के रूप अपने मूल और विकृत रूपों मे नियत है।

ब्रजबोली में परसर्गों के अनेक रूप मिलते हैं—सूर ने इनका भी नियमन किया है। 'ने' का प्रयोग वे कहीं नहीं करते, शेष परसर्गों का करते हैं।

निष्कर्ष यह कि संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया के जिन रूपों का ग्रहण सूर ने किया, साहित्यिक अभिव्यक्ति में उन्हें ही स्वीकार किया गया। व्याकरण रूपों मे नियमन रखना उनकी विशेषता है। रूपों में वैकल्पिक प्रयोगों का बाहुल्य नहीं है। विभक्तियों मे ऐकारान्त और औकारान्त के विकल्प एकारान्त और ओकारान्त नही मिलते। यह आवश्यक है कि परवर्ती ब्रजी में एकारान्त और ओकारान्त रूप ही स्वीकृत हुए।

जहाँ तक क्रिया पदों का सम्बन्ध है—उसकी रूप-रचना में काल-रचना और कृदन्ती रूपों का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रजभाषा के मूल काल तीन हैं—वर्तमान निश्चयार्थ, भविष्य निश्चयार्थ और आज्ञार्थ। कृदन्ती रूप हैं— वर्तमान कालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त तथा भूत सम्भावनार्थ। सूरसागर में यहाँ भी एकरूपता का निर्वाह मिलता है।

इतनी सजगता बरतने पर भी यह कहना कि उपलब्ध पाठ की भाषा की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष है—ठीक नहीं। अनवधानता तथा तुक और वर्ण मैत्री की विवशता से इन्होंने लिंग तथा कारक चिह्नों एवं क्रिया-रूपों में नियमोल्लघन किया है। उदाहरणार्थ,

(i) **सोभा-सिन्धु** न अन्त लही री।

(ii) **बिस्मय** मिटी सँसि पेखि समीपहि।

इन प्रयोगों में मोटे टाइप के शब्द पुल्लिंग है, पर इन्हें स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया गया है। लिंग प्रयोग में ही नहीं, विभक्तियों में भी नैयत्य नहीं है। यत्र-तत्र ग्राम्य प्रयोग और शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दालियाँ भी साहित्यिक प्रवाह में बाधा डालती हैं।

कुल मिलाकर इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने ब्रजभाषा को न केवल समृद्ध किया अपितु अपने विविध शब्द-भण्डार से मुहावरों और लोकोक्तियों के समावेश से उसकी व्यंजन-क्षमता और प्रवाहमयता भी बढ़ायी। व्याकरण के रूपों में साहित्यिक दृष्टिकोण रखा, बोली के रूपों में प्राप्त विकल्पों में से अपेक्षाकृत काव्योचित रूप ही ग्रहण किये, पर नियमन में उतने कट्टर न रहे। यहाँ तक कि अवधी और बुन्देली का भी स्वागत किया और अवसर दिया। निष्कर्ष यह कि भाषा के क्षेत्र में भी सूर ने एक आदर्श रूप दिया।

सूर पद्मालिका

(१)

चरन-कमल बंदौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अँधे कों सब कुछ दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूंग पुनि बोलै. रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाइ॥

(२)

प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ।
अति-गंभीर-उदार-उदधि हरि, जान-सिरोमनि राइ।
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु-समान।
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहिं बूंद-तुल्य भगवान।
बदन-प्रसन्न कमल सनमुख ह्वै देखत हौ हरि जैसें।
बिमुख भए अकृपा न निमिषहूँ, फिरि चितयौ तौ तैसें।
भक्त-बिरह-कातर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे॥

(३)

जैसे कस गज कौ पाउँ छुड़ायौ।
अपने जन कौं दुखित जानि कै पाउँ पियादे धायौ।
जहँ-जहँ गाढ़ परी भक्तनि कौं, तहँ-तहँ आपु जनायौ।
भक्ति हेत प्रहलाद उबारयौ, द्रौपदि-चीर बढ़ायौ।
प्रीति जानि हरि गए बिदुर कैं, नामदेव-घर छायौ।
सूरदास द्विज दीन सुदामा, तिहिं दारिद्र नसायौ॥

(४)

बिनती सुनौ दीन की चित दै, कैसें तुव गुन गावै ?
माया नटी लकुटि-कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावै।
तुम सौं कपट करावति प्रभुजू, मेरी बुधि भरमावै।
मन अभिलाष-तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै।
सोवत सपने मैं ज्यौं संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै।
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै।
ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै।
मेरे तौ तुम पति, तुमही गति, तुम समान को पावै ?
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु, को मो दुख बिसरावै ॥

(५)

अब कै राखि लेहु भगवान्।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान।
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान ?
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।
सूरदास सर लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान ॥

(६)

आछौ गात अकारथ गार्यौ।
करि न प्रीति कमल-लोचन सौं, जनम जुवा ज्यौं हार्यौ।
निसि दिन बिषय-बिलासनि बिलसत, फूटि गईं तब चार्यौ।
अब लाग्यौ पछितान पाइ दुख, दीन, दई कौ मार्यौ।
कामी, कृपन, कुचील, कुदरसन, को न कृपा करि तार्यौ।
तातैं कहत दयाल देव-मनि, काहैं सूर बिसार्यौ ॥

(७)

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ बिषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।

तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया कौ कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल॥

(८)

हमारे प्रभु, औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुविधा पारस नाहिं जानत, कंचन करत खरौ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै, गंगा नाम परौ।
तन माया, ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सुमिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ॥

(९)

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसें उड़ि जहाज को पच्छी, फिरि जहाज पर आवै।
कमल-नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव कौ ध्यावै।
परम गंग कौ छाँड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील फल भावै।
सूरदास-प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

(१०)

तजौ मन हरि बिमुखनि कौ संग।
जिनकै संग कुमति उपजति है, परत भजन मैं भंग।
कहा होत पय पान कराऐं, बिष नहिं तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुगाऐं, स्वान न्हवाए गंग।
खर कौ कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन अंग।
गज कौं कहा सरित अन्हवाऐ, बहुरि धरै वह ढंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतौ करत निषंग।
सूरदास कारी कामरि पै चढ़त न दूजौ रंग।

(११)

रे मन मूरख जनम गवायौ
करि अभिमान बिषय-रसगीध्यौ, स्याम-सरन नहिं आयौ
यह संसार सुवा-सेमर ज्यौं, सुन्दर देखि लुभायौ
चाखन लाग्यौ रुई गई उड़ि हाथ कछू नहिं आयौ
कहा होत अब के पछिताएँ पहिलैं पाप कमायौ
कहत सूर भगवत-भजन बिनु, सिर धुनि-धुनि पछितायौ।

(१२)

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-उर, गुंजत निगम सुवास
जिहिं सर सुभग-मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम; इहाँ कहा रहि कीजै
लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास
अब न सुहात विषय रस-छीलर, वा समुद्र की आस।

(१३)

अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ।
जैसें स्वान काँच-मंदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि परयौ
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि फिरयौ
ज्यौं सपने में रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकरयौ
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपन कूप परयौ
जैसे गज लखि फटिक सिला में, दसननि जाइ अरयौ
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहीं दीनी, घर-घर द्वार फिरयौ
सूरदास नलिनी को सुवटा, कहि कौनें पकरयौ।

(१४)

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु तन-मंडित, मुख दधि लेप किये
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिये
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए

कठुला-कंठ बज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए॥

(१५)

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति।
बाल दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नन्द बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति॥

(१६)

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनंद भरि लेत बलैया।
कबहुँक कुल देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया।
कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति, इहिं आँगन खेलौ दोउ भैया।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नँदरैया॥

(१७)

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं, ह्वै है लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हावत जैहै नागिन सी भुइँ लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥

(१८)

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं मैं कैसे करि पायौ।

मुख दधि पोंछि, बुद्धि एक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरञ्चि नहिं पायौ॥

(१९)

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ, सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहूँ कौं चुचकारि गयौ लै, जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चलौ कहि गयौ उहाँ तैं, काटि खाइ रे हाऊ।
हौं डरपौं काँपौं अरु रोवौं, कोउ नाहिं धीर धराऊ।
थरसि गयौं नहिं भागि सकौं, वै भागे जात अगाऊ।
मोसौं कहत मोल कौ लीनो, आपु कहावत साऊ।
सूरदास बल बड़ौ चबाई, तैसेहिं मिले सखाऊ॥

(२०)

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइ।
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ॥

(२१)

फेंट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा।
काहे कौं तुम रारि बढ़ावत, तनक बात कैं कामा।
मेरी गेंद लेहु ता बदलै, बाँह गहत हौ धाइ।
छोटौ बड़ौ न जानत काहूँ, करत बराबरि आइ।
हम काहे कौ तुमहिं बराबर, बड़े नंद के पूत।
सूर स्याम दीन्हैं ही बनिहै, बहुत कहावत धूत॥

(२२)

रिस करि लीन्ही फेंट छुड़ाई।
सखा सबै देखत हैं ठाढ़े आपुन चढ़े कदम पर धाइ।

तारी दै दै हँसत सबै मिलि, स्याम गए तुम भाजि डराइ।
रोवत चले श्रीदामा घर कौ, जसुमति आगै कहिहौ जाइ।
सखा-सखा कहि स्याम पुकार्यौ, गेंद आपनौ लेउ न आइ।
सूर स्याम पीतांबर काछे, कूदि परे दह मे भहराइ॥

(२३)

चौंकि परी तन की सुधि आई।
आजु कहा ब्रज सोर मचायो, तब जान्यौ दह गिर्यौ कन्हाई।
पुत्र-पुत्र कहिकै उठि दौरी, व्याकुल जमुना-तीरहि धाई।
ब्रज बनिता सब संगहि लागी, आइ गए बल, अग्रज भाई।
जननी व्याकुल देखि प्रबोधत, धीरज करि नीकै जदुराई।
सूर स्याम कौ नैकुँ नही डर, जनि तू रोवै जसुमति माई॥

(२४)

मुरली तऊ गुपालहि भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदलालहिं, नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाइ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति, कटि, टेढ़ौ ह्वै आवति।
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, नैन नासा-पुट, हम पर कोप करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, धर तैं सीस डुलावति॥

(२५)

अधर-रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कौं षटरितु तप कीन्हौ, सो रस पियति सभागी।
कहाँ रही, कहँ तैं इह आई, कौनें याहि बुलाई?
चकित भई कहति ब्रजबासिनि, यह तो भली न आई।
सावधान क्यौं होति नहीं तुम, उपजी बुरी बलाई।
सूरदास प्रभु हम पर ताकौं, कीन्हौ सौति बजाई॥

(२६)

अबहीं तैं हम सबनि बिसारी।
ऐसे बस्य भये हरि वाके, जाति न दसा बिचारी।

कबहूँ कर पल्लव पर राखत, कबहूँ अधर लै धारी।
कबहूँ लगाइ लेत हिरदै सौं, नैं कहु करत न न्यारी।
मुरली स्याम किए बस अपनैं, जे कहियत गिरिधारी।
सूरदास प्रभु कैं तन-मन-धन, बाँस बँसुरिया प्यारी॥

(२७)

जमुना तट देखे नंद नदन।
मोर-मुकुट मकराकृत-कुडल, पीत-बसन तन चन्दन।
लोचन तृप्त भए दरसन तै, उर की तपति बुझानी।
प्रेम-मगन तब भई सुन्दरी, उर गदगद, मुख-बानी।
कमल नयन तट पर हैं ठाढ़े, सकुचहिं मिलि ब्रज नारी।
सूरदास-प्रभु अंतरजामी, ब्रत-पूरन पगधारी॥

(२८)

जबहिं बन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोप-कन्या सब, काम-धाम बिसरी।
कुल मर्जाद बेद की आज्ञा, नैंकुहुँ नहीं डरीं।
स्याम-सिंधु, सरिता-ललना-गन, जल की ढरनि ढरीं।
अँग-मरदन करिबे कौं लागीं, उबटन तेल धरी।
जो जिहिं भाँति चली सो तैसेंहि, निसि बन कौं जु खरी।
सुत पति-नेह, भवन-जन संका, लज्जा नाहिं करी।
सूरदास-प्रभु मन हरि लीन्हौं, नागर नवल हरी॥

(२९)

चली बन बेनु सुनत जब धाइ।
मातु-पिता-बान्धव अति त्रासत, जाति कहाँ अकुलाइ।
सकुच नहीं, संका कछु नाहीं, रैनि कहाँ तुम जाति।
जननी कहति दई की घाली, काहैं कौ इतराति।
मानति नहीं और रिस पावति, निकसी नातौ तोरि।
जैसैं जल-प्रवाह भादौ कौ, सो को सकै बहोरि।
ज्यौं केंचुरी भुअंगम त्यागत, मात पिता यौं त्यागे।
सूर स्याम कै हाथ बिकानी, अलि अंबुज अनुरागे॥

(३०)

कहत स्याम श्रीमुख यह बानी ।
धन्य-धन्य दृढ़ नेम तुम्हारौ, बिनु दामनि मो हाथ बिकानी ।
निरदय वचन कपट के भाखे, तुम अपनै जिय नैंकु न आनी ।
भँजी निसंक आइ तुम मोकौं, गुरुजन की संका नहिं मानी ।
सिंह रहे जंबुक सरनागत, देखी सुनी न अकथ कहानी ।
सूर-स्याम अंकम भरि लीन्हीं, बिरह अग्नि-झर तुरत बुझानी ॥

(३१)

मानो भाई घन-घन अन्तर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर, सोभित हरि ब्रज भामिनि ।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई-जामिनि ।
सुन्दर ससि गुन रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि ।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं, मुदित भई गुन ग्रामिनि ।
रूप-निधान स्याम सुन्दर तन, आनन्द बिस्रामिनि ।
खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि ।
को गति गनै सूर मोहन सग, काम बिमोह्यौ कामिनि ॥

(३२)

अन्तर तै हरि प्रगट भए ।
रहत प्रेम के बस्य कन्हाई, जुवतिनि कौ मिल हर्ष दए ।
वैसोई सुख सबकौ फिर दीन्हौ, वहै भाव सब मानि लियौ ।
वै जानति हरि संग नवहि तै, वहै बुद्धि सब, वहै हियौ ।
वहै रासमण्डल-रस जानति, बिच गोपी, बिच स्याम, धनी ।
सूर स्याम स्यामा मधि नायक, वहै परस्पर प्रीति बनी ॥

(३३)

ब्रज-जुवती रस-रास पगी ।
कियौ स्याम-सब कौ मन भायौ, निसि रति-रंग जगी ।
पूरन ब्रह्म, अकल, अबिनासी, सबनि संग सुख चीन्हौ ।
जितनी नारि भेष भए तितने, भेद न काहु कीन्हौ ।
वह सुख टरत न काहू मन तै, पति हित-साध पुराई ।
सूर-स्याम दूलह सब सब दुलहिनि, निसि भाँवरि दै आई ॥

(३४)

घट भरि दियौ स्याम उठाइ।

नैंकु तन की सुधि न ताकौं, चली ब्रज-समुदाइ।
स्याम सुन्दर नैन-भीतर, रहे आनि समाइ।
जहाँ-जहाँ भरि दृष्टि देखै, तहाँ-तहाँ कन्हाइ।
उतहिं तें इक सखी आई, कहति कहा भुलाइ।
सूर अबहीं हंसत आई, चली कहाँ गवाँइ॥

(३५)

स्याम भुजनि की सुन्दरताई।

चन्दन खौरि अनुपम राजति, सो छबि कही न जाई।
बड़े बिसाल जानु लौं परसत, इक उपमा मन आई।
मनौ भुजंग गगन तैं उतरत, अधमुख रह्यौ झुलाई।
रत्नजटित पहुंची कर राजति, अंगुरी सुन्दर भारी।
सूर मनौ फनि-सिर मनि सोभित, फन-फन की छबि न्यारी॥

(३६)

नटवर-वेष धरे ब्रज आवत।

मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, कुटिल अलक मुख पर छबि पावत।
भृकुटी बिकट नैन अति चंचल, इहिं छबि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत, उड़ि न सकत उड़िबै अकुलावत।
अधर अनूप मुरलि-सुर पूरत, गौरी राग अलापि बजावत।
सुरभी-बृंद-गोप-बालक-संग, गावत अति आनन्द बढ़ावत।
कनक-मेखला कटि पीताम्बर, निर्तत मंद-मंद सुर गावत।
सूर-स्याम-प्रति-अंग-माधुरी, निरखत ब्रज-जन कैं मन भावत॥

(३७)

नैना घूंघट में न समात।

सुन्दर बदन नंद-नंदन कौ, निरखि-निरखि न अघात।
अति रस-लुब्ध महा मधु लंपट, जानत एक न बात।
कहा कहौ दरसन-सुख माते, ओट भएँ अकुलात।
बार-बार बरजत हौं हारी, तऊ टेव नहिं जात।
सूर तनक गिरिधर बिनु देखें पलक कलप सम जात।

(३८)

बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी ।
काहे कौं हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी ।
सुनत रहति स्रवननि नंद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि चोरी ।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी ॥

(३९)

प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यौ ।
नैन-नैन कीन्ही सब बातें, गुप्त प्रीति प्रगटान्यौ ।
खेलन कबहुँ हमारैं आवहु, नंद-सदन, ब्रज गाउँ ।
द्वारैं आइ टेरि मोहि लीजौ, कान्ह हमारौ नाउँ ।
जौ कहियै घर दूरि तुम्हारौ, बोलत सुनियै टेरि ।
तुमहि सौंह बृषभानु बबा की, प्रात-साँझ इक फेरि ।
सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातैं करियत साथ ।
सूर-स्याम नागर-उत नागरि, राधा दोउ मिलि गाथ ॥

(४०)

तुम सौं कहा कहौं सुन्दर घन ।
या ब्रज में उपहास चलत है, सुनि सुनि स्रवन रहति मनही मन ।
जा दिन सखनि पछारि, नोइ करि, मोहि दुहि नई धेनु बंसीबन ।
तुम गही बाँह सुभाइ आपनै हौं तितई हँसि नैकु बदन-तन ।
ता दिन तैं घर मारग जित-तित, करत चबाव सकल गोपीजन ।
सूर-स्याम अब साँच पारिहौं, यह पतिब्रत तुम भी नँद-नंदन ॥

(४१)

ब्रजहिं बसै आपुहिं बिसरायौ ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि, जानहु, बातनि भेद करायौ ।
जल थल जहाँ रहौं तुम बिनु नहिं, बेद उपनिषद गायौ ।
द्वै-तन जीव-एक हम दोऊ, सुख-कारन उपजायौ ।
ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ ।
सूर स्याम-मुख देखि अलप हँसि आनंद-पुंज बढ़ायौ ॥

(४२)

जमुना-जल बिहरति ब्रज नारी।
तट ठाढ़े देखत नँद-नंदन, मधुरि मुरलि कर धारी।
मोर मुकुट, स्रवननि मनि कुंडल, जलज-माल उर भ्राजत।
सुंदर सुभग स्याम तन नव घन, बिच बग पाँति बिराजत।
उर बनमाल सुमन बहु भाँतिनि, सेत, लाल, सित, पीत।
मनहु सुरसरी तट बैठे सुक, बरन बरन तजि भीत।
पीताम्बर कटि तट छुद्रावलि, बाजति परम रसाल।
सूरदास मनु कनकभूमि ढिग, बोलत रुचिर मराल॥

(४३)

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ीं।
हरि के चलत देखियत ऐसी, मनहु चित्र लिखि काढ़ी।
सूखे बदन, स्रवनि नैननि तैं, जल-धारा उर बाढ़ी।
कंधनि बाँह धरे चितवति मनु, द्रुमनि बेलि दव दाढ़ी।
नीरस करि छाँड़ी सुफलक सुत, जैसें दूध बिनु साढ़ी।
सूरदास अक्रूर कृपा तैं, सही बिपति तन गाढ़ी॥

(४४)

संदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते।
सूर पथिक सुनि मोहिं रैन दिन, बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत संकोच॥

(४५)

प्रीति करि दीन्ही गरैं छुरी।
जैसैं बधिक चुगाइ कपट-कन, पाछै करत बुरी।
मुरली मधुर चेप काँपा करि, मोर चंद्र फँदवारि।
बंक बिलोकनि लगी, लोभ बस, सकी न पंख पसारि।

नरफत छाँडि गए मधुवन कौं, बहुरि न कीन्हो सार।
सूरदास प्रभु संग कल्पतरु, उलटि न बैठी डार॥

(४६)

नाथ अनाथिनि की सुधि लीजै।
गोपी, ग्वाल, गाइ, गोसुत सब, दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै।
नैननि जलधारा बाढ़ी अति, बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी विनती सुनहु हमारी, बारक हूँ पतिया लिखि दीजै।
चरन कमल दरसन नव नवका, करुनासिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की, एक वार आवन ब्रज लीजै॥

(४७)

देखियत कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भयौ विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धमि, तरंग नरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस काँस कूल पर पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, निसि दिन दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी॥

(४८)

अब वै बातैं उलटि गईं।
जिन बातनि लागत सुख आली, तेऊ दुसह भई।
रजनी स्याम स्याम सुन्दर संग, अरु पावस की गरजनि।
सुख समूह की अवधि माधुरी, पिय रस बस की तरजनि।
मोर पुकार गुहार कोकिला, अति गुंजार सुहाई।
अब लागति पुकार दादुर सम, विनही कुँवर कन्हाई।
चन्दन चन्द समीर अगिन सम, तनहिं देत दव लाई।
कालिंदी अरु कमल कुसुम सब, दरसन ही दुखदाई।
सरद बसंत सिसिर अरु ग्रीषम, हिम-रितु की अधिकाई।
पावस जरैं सूर के प्रभु बिनु तरफत रैनि बिहाई।

(४९)

मधुबन तुम क्यौ रहत हरे ।
बिरह बियोग स्याम सुन्दर के, ठाढ़े क्यों न जरे ।
मोहन बिनु बजावन तुम नर, साखा टेकि खरे ।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे ।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिर-फिरि पुहुप धरे ।
सूरदास प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौ न जरे ।।

(५०)

सखी इन नैननि तैं घन हारे ।
बिनहीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
बदन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे ।
दुरि-दुरि बूंद परत कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे ।
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिवि मूरति धरि न्यारे ।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे ।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ।।

(५१)

निसि दिन बरषत नैन हमारे ।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे ।
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ।
आसूँ सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे ।
सूरदास प्रभु यहै परेखो, गोकुल काहैं बिसारे ।।

(५२)

हरि दरसन को तरसति अँखियाँ ।
झाँकति-झखति झरोखा बैठी, कर मीड़ति ज्यौं मखियाँ ।
बिछुरीं बदन-सुधानिधि-रस तैं, लगति नहीं पल पँखियाँ ।
इकटक चितवति उड़ि न सकति जनु, थकित भईं लखि सखियाँ ।
बार-बार सिर धुनति बिसूरति, बिरह ग्राह जनु भखियाँ ।
सूर सुरूप मिलै तैं जीवहि, काट किनारे नखियाँ ।।

(५३)

(मेरे) नैना बिरह की बेलि बई ।
सींचत नैन-नीर के सजनी, मूल पताल गई।
बिगसित लता सुभाइ आपनैं, छाया सघन भई।
अब कैसें निरुवारौं सजनी, सब तन पसरि छई।
को जानैं काहू के जिय की, छिन-छिन होत नई।
सूरदास स्वामी के बिछुरैं, लागी प्रेम जई ॥

(५४)

ब्रज बसि काके बोल सहौं ।
इन लोभी नैननि के काजैं, परबस भइ जो रहौं ।
बिसरि लाज गइ सुधि नहिं तन की, अबधौं कहा कहौं ।
मेरे जिय में ऐसी आवति, जमुना जाइ बहौं ।
इक बन ढूँढि सकल बन ढूँढौं, कहूँ न स्याम लहौं ।
सूरदास-प्रभु तुम्हारे दरस कौं, ईहि दुख अधिक दहौं ॥

(५५)

हो, ता दिन कजरा मैं देहौं ।
जा दिन नदनँदन के नैननि, अपने नैन मिलैहौं ।
सुनि री सखी यहै जिय मेरैं, भूलि न और चितैहौं ।
अब हठ सूर यहै ब्रत मेरौ, कौकिर खै मरि जैहौं ॥

(५६)

पिया बिनु नागिनि रात ।
जौ कहूँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात ।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरैं खात ॥

(५७)

मोकौं माई जमुना जम ह्वै रही ।
कैसें मिलौं स्याम सुन्दर कौं, बैरिनि बीच बही ।
कितिक बीच मथुरा अरु गोकुल, आवत हरि जु नहीं ।
हम अबला कछु मरम न जान्यौ, चलत न फेंट गही ।

अब पछिनाति प्रान दुख पावत, जानि न गान कही।
सूरदास प्रभु सुमिरि-सुमिरि गुन, दिन-दिन सूल सही॥

(५८)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आप प्रान दह्यौ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, संपुट मांझ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सह्यौ।
हम जो प्रीति करी माधव सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिन दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ॥

(५९)

जनि कोउ काहू कैं बस होहि।
ज्यौं चकई दिनकर बस डोलत, मोहि फिरावत मोहि।
हम तौ रीझि लटू भई लालन, महा प्रेम तिय जानि।
बंधन अवधि भ्रमति-निसि-बासर, को सुरझावत आनि।
उरझे संग अंग अंगनि प्रति, बिरह बेलि की नाईं।
मुकुलित कुसुम नैन निद्रा तजि, रूप सुधा सियराईं।
अति आधीन हीन-मति ब्याकुल, कहँ लौ कहौं बनाई।
ऐसी प्रीति-रीति रचना पर, सूरदास बलि जाई॥

(६०)

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए।
बीर बटाऊ पंथी हौ तुम, कौन देस तैं आए।
यह पाती हमरी लै दीजौ, जहाँ साँवरे छाए।
दादुर मोर पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए।
सूर स्याम गोकुल तैं बिछुरे, आपुन भए पराए॥

(६१)

ये दिन रूसिबे के नाहीं।
कारी घटा पौन झकझोरैं, लता तरुन लपटाहीं।
दादुर मोर चकोर मधुप पिक, बोलत अमृत बानी।
सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस बिनु, बैरिन रितु नियरानी॥

(६२)

अब बरषा कौ आगम आयौ ।

ऐसे निठुर भए नँदनंदन, संदेसौ न पठायौ।
बादर घेरि उठे चहुं दिसि तैं, जलधर गरजि सुनायौ।
एकै सूल रही मेरैं जिय, बहुरि नहीं ब्रज छायौ।
दादुर मोर पपीहा बोलत, कोकिल सब्द सुनायौ।
सूरदास के प्रभु सौं कहियौ, नैननि है झर लायौ॥

(६३)

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।

अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे।
जिते पथिक पठए मधुबन कौं, बहुरि न सोध करे।
कै वै स्याम सिखाइ प्रमोधे, कै कहुँ बीच मरे।
कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दव लागि जरे।
सेवक सूर लिखन कौं आँधौ, पलक कपाट अरे॥

(६४)

ब्रज पर बदरा आए गाजन।

मधुबन को पठए सुनि सजनी, फौज मदन लाग्यौ साजन।
ग्रीवा रंध्र नैन चातक जल, पिक मुख बाजे बाजन।
चहुँदिसि तैं तन बिरहा घेरयौ, कैसैं पावति भाजन।
कहियत हुते स्याम पर पीरक, आए संकट काजन।
सूरदास श्रीपति की महिमा, मथुरा लागे राजन॥

(६५)

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।

किधौं हरि हरषि इंद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेषनि।
किधौं उहिं देस बगनि मग छाँड़े, धरनि न बूँद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधिकनि बधे बिसेषनि।
किधौं उहिं देस नहिं झूलति, गावति सखि न सुदेसनि।
सूरदास प्रभु पथिक न चलहीं, का सौं कहौं सँदेसनि॥

(६६)

आजु घन स्याम की अनुहारि।

आए उनइ साँवरे सजनी देखि रूप की आरि।

इंद्र धनुष मनु पीत बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिनि की, चितवत चित्त निहारि।
गरजन गगन गिरा गोविंद मनु, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के, बिकल भई ब्रजनारि॥

(६७)

हमारे माई मोरवा बैर परे।
घन गरजत बरज्यौ नहिं मानत, त्यौं त्यौं रटत खरे।
करि-करि प्रगट पंख हरि इनके, लै लै सीस धरे।
यही तैं न बदत बिरहिनि कौं, मोहन ढीठ करे।
को जानै काहे तैं सजनी, हमसौं रहत अरे।
सूरदास परदेस बसे हरि, ये बन तैं न टरे॥

(६८)

सखी री चातक मोहिं जियावत।
जैसेहिं रैनि रटति हौं पिय पिय, तैसेहिं वह पुनि गावत।
अतिहिं सुकंठ, दाह प्रीतम कैं, तारू जीभ न लावत।
आपुन पियत सुधा-रस अमृत, बोलि बिरहिनी प्यावत।
यह पंछी जुसहाइ न होतौ, प्रान महा दुख पावत।
जीवन सुफल सूर ताही कौ, काज पराए आवत॥

(६९)

कोकिल हरि कौ बोल सुनाउ।
मधुबन तें उपटारि स्याम कौं, इहिं ब्रज कौ लै आउ।
जा जस कारन देत सयाने, तन मन धन सब साज।
सुजस बिकात बचन के बदलैं, क्यौं न बिसाहतु आज।
कीजै कछु उपकार परायौ, इहै सयानौ काज।
सूरदास पुनि कहँ यह अवसर, बिनु बसंत रितुराज॥

(७०)

दूरि करहि बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग मोहे, नाहिंन होत चंद्र कौ ढरिबौ।
बीतै जाहि सोइ पै जानै, कठिन सु प्रेम पास कौ परिबौ।
प्राननाथ संगहिं तैं बिछुरे, रहत न नैन नीर कौ झरिबौ।

सीतल चंद अगिन सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबौ।
सूर सु कमलनयन के बिछुरैं, झूठौ सब जतननि कौ करिबौ॥

(७१)

कोउ माई बरजै री या चंदहि।
अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि कुल आनंदहि।
कहाँ कहौं बरषा रवि तमचुर, कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, बिरहिनि के तन जारे।
निंदति सैल उदधि पन्नग कौं, श्रीपति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरादेवी कौ, राहु केतु किन जोरहिं।
ज्यौं जल-हीन मीन तन तलफति, ऐसी गति ब्रजबालहिं।
सूरदास अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिं॥

(७२)

माई मोकौं चंद लग्यौ दुख दैन।
कहँ वै स्याम कहाँ वै बतियाँ, कहँ वै सुख की रैन।
तारे गनत-गनत हौं हारी, टपकत लागे नैन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बिरहिनि कौ नहिं चैन॥

(७३)

इहिं दुख तन तरफत मरि जैहै।
कबहुँ न सखी स्याम-सुन्दर घन, मिलिहैं आइ अंक भरि लैहैं?
कबहुँ न बहुरि सखा सँग ललना, ललित त्रिभंगी छबिहिं दिखैहै?
कबहुँ न बेनु अधर धरि मोहन, यह मति लै लै नाम बुलैहै?
कबहुँ न कुंज भवन सँग जैहैं, कबहुँ न दूती लैन पठैहैं?
कबहुँ न पकरि भुजा रस बस ह्वै, कबहुँ न पग परिमान मिटैहैं?
याही तैं घट प्रान रहत हैं, कबहुँक फिरि दरसन हरि दैहैं?
सूरदास परिहरत न यातै, प्रान तजै नहिं पिय ब्रज ऐहै॥

(७४)

उनकौ ब्रज बसिबौ नहिं भावै।
ह्वाँ वै भूप भए त्रिभुवन के, ह्याँ कत ग्वाल कहावैं।
ह्वाँ वै छत्र सिंहासन राजत, को बछरनि सँग धावै।
ह्वाँ तौ बिबिध बस्त्र पाटंबर, को कमरी सचु पावै।

नंद जसोदा हूँ कौ बिसरयौ, हमरी कौन चलावै।
सूरदास प्रभु निठुर भए री, पातिहु लिखि न पठावै॥

(७५)

तबहिं उपँग-सुत आइ गए।
सखा-सखा कुछ अन्तर नाही, भरि भरि अंक लए।
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो, देखत हरि पछिताने।
ऐसे कै वैसी बुधि होती, ब्रज पठऊँ मन आने।
या आगै रस-कथा प्रकासौ, जोग-कथा प्रगटाऊँ।
सूर ज्ञान याकौ दृढ़ करिकैं, जुवतिन्ह पास पठाऊँ॥

(७६)

सखा सुनि एक मेरी बात।
वह लता गृह संग गोपिन, सुधि करत पछितात।
बिधि लिखी नहिं टरत क्यौ हूँ, यह कहत अकुलात।
हँसि उपँग-सुत बचन बोले, कहा करि पछितात।
सदा हित यह रहत नाहीं, सकल मिथ्या जात।
सूरप्रभु एक यह सुनो मोसौ, एक हीसौं नात॥

(७७)

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कैं, ह्वै गइ स्याम-स्याम जू की पाती।
गोकुल बसत नँदनंदन के, कबहुँक बयारि न लागी ताती।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधौ, जब सुनि बेनु नाद सँग जाती।
उनकै लाड बनति नहिं काहूँ, निसि दिन रसिक-रास-रस राती।
प्रान-नाथ तुम कबहि मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल-सँघाती॥

(७८)

कोउ ब्रज बाँचत नाहिं न पाती।
कत लिखि-लिखि पठवत नंद-नंदन, कठिन बिरह की काँती।
नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
परसैं जरैं, बिलोकै भीजैं, दुहूँ भाँति दुख छाती।
को बाँचै ये अंक सूरप्रभु कठिन मदन-सर-घाती।
सब सुख लै गए स्याम मनोहर, हमकौ दुख दै थाती॥

(७९)

ऊधौ कहा करैं लै पाती।
जौ लौं मदनगुपाल न देखैं, बिरह जरावत छाती।
निमिष-निमिष मोहि बिसरत नाहीं, सरद जुहाई राती।
पीर हमारी जानत नाहीं, तुम हौ स्याम सँघाती।
यह पाती लै जाहु मधुपुरी, जहँ वै बसैं सुजाती।
मन जु हमारे उहाँ लै गए, काम कठिन सर घाती।
सूरदास प्रभु कहा चहत हैं, कोटिक बात सुहाती।
एक बेर मुख बहुरि दिखावहु, रहैं चरन रज-राती॥

(८०)

इहिं अन्तर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुन्दर सब्द सुनायौ।
पूछन लागी ताहि गोपिका, कुबिजा तोहिं पठायौ।
कीधौं सूर स्याम सुन्दर कौ, हमैं सन्देसौ लायौ॥

(८१)

(मधुप तुम) कहौ कहाँ तैं आए हौ।
जानति हौं अनुमान आपनैं, तुम जदुनाथ पठाए हौ।
वैसेन बसन, बरन तन सुन्दर, वेइ भूषन सजि ल्याए हौ।
लै सरबसु संग स्याम सिधारे, अब का पर पहिराए हौ।
अहो मधुप एकै मन सबकौ, सु तौ उहाँ लै छाए हौ।
अब यह कौन सयान बहुरि ब्रज, ता कारन उठि धाए हौ।
मधुबन की मानिनी मनोहर, तहीं जात जहँ भाये हौ।
सूर जहाँ लौं स्याम गात हैं, जानि भले करि पाए हौ॥

(८२)

रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कौन काज या निरगुन सौं, चिर जीवहु कान्ह हमारे।
लोटत पीत पराग कीच में, बीच न अंग सम्हारे।
बारंबार सरक मदिरा की, अपरस रटत उघारे।
तुम जानत हौ वैसी ग्वारिनि, जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबहिनि बिरमावत, जेते आवत कारे।

सुन्दर बदन कमल-दल लोचन, जसुमति नंद दुलारे।
तन मन सूर अरपि रही स्यामहि, का पै लेहिं उधारे॥

(८३)

मधुकर हम न होंहि वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग, करन कुसुम-रस केलि।
बारे तैं बर बारि बनी है, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होनि सदा हित हानि।
ये बेली बिरही वृन्दावन, उरझीं स्याम तमाल।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल।
जोग समीर धरि नहिं डोलतिं, रूप डार दृढ़ लागी।
सूर पराग न तजति हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागी॥

(८४)

प्रकृति जो जाकै अंग परी।
स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी।
जैसें काग भच्छ नहिं छाँडै, जनमत जौन धरी।
धोए रंग जात नहि कैसेंहूं, ज्यों कारी कमरी।
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत, ऐसी धरनि धरी।
सूर होइ सो होइ सोच नहिं, तैसेइ एऊ री॥

(८५)

ऊधौ हम आजु भई बड़भागी।
जिन अँखियन तुम स्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागीं।
जैसे सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसे, अंग-अंग सुख रागी।
ज्यौं दरपन में दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसें सूर मिले हरि हमकौं, बिरह-बिथा तन त्यागी॥

(८६)

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहतिं कमलनैन कौं, निसि-दिन रहतिं उदासी।
आए ऊधौ! फिरि गए आँगन, डारि गए गर फाँसी।
केसरि तिलक मोतिन की माला वृन्दावन के बासी

काहू कें मन की कोउ जानत, लोगनि के मन हाँसी।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौ, करवट लैहौं कासी ॥

(८७)

जब तैं सुन्दर बदन निहारयौ।
ता दिन तैं मधुकर मन अटक्यौ, बहुत करी निकरै न निकारयौ।
मातु-पिता, पति, बन्धु, सुजन नहिं, तिनहू कौ कहिबो सिर धारयौ।
रही न लोक लाज निरखत, दुसह क्रोध फीकौ करि डारयौ।
ह्वै बौ होइ सु होइ कर्मबस, अब जी कौ सब सोच निवारयौ।
दासी भई जु सूरदास प्रभु, भलौ पोच अपनौ न विचारयौ ॥

(८८)

ऊधौ अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहुं पलक न लागी।
बिनु पावस-पावस करि राखी, देखत हौ बिदमान।
अबधौं कहा कियौ चाहत हौ, छाँड़ौ निरगुन ज्ञान।
तुम हौ सखा स्याम सुन्दर के, जानत सकल सुभाइ।
जैसें मिलै सूर के स्वामी, सोई करहु उपाइ ॥

(८९)

मधुबन लोगनि को पतियाइ।
मुख औरै अतरगनि औरै, पतियाँ लिखि पठवत जु बनाइ।
ज्यौं कोइल सुत-काग जियावें भाव भगति भोजन जु खवाइ।
कुहुकि-कुहुकि आएँ बसन्त रितु, अंत मिलै अपने कुल जाइ।
ज्यौं मधुकर अंबुज रस चाख्यौ, बहुरि न बूझे बातैं आइ।
सूर जहाँ लगि स्याम गात हैं, तिनसौं कीजै कहा सगाइ ॥

(९०)

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े।
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखें ते राँड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े।
कहु षट्पद कैसें खैयतु है, हाथिनि कैं संग गाँड़े।
काकी भूख बगारि नषि बिना दूध घृत माँड़

काहे कौं ज्ञाता लै मिलवत, कौन चोग तुम डाँड़े।
सूरदास तीनों तहि उपजत, धनिया, धान, कुम्हाड़े॥

(६१)

ज्ञान बिना कहुँवै सुख नाही।
घट-घट व्यापक दारु अगिनि ज्यों, सदा बसै उर माही।
निरगुन छाँडि सगुन को दौरति, सुधौ कहौ किहि पाही।
तत्व भजो जो निकट न छूटै, ज्यौं तनु तैं परछाही।
तिहि तै कहौ कौन सुख पायौ, जिहि अबलौं अवगाहीं।
सूरदास ऐसैं करि लागत, ज्यौं कृषि कीन्हें पाही॥

(६२)

ऊधौ कही सु फेरि न कहिऐ।
जौ तुम हमैं जिवायौ चाहत, अनबोले ह्वै रहिऐ।
प्रान हमारे घात होत है, तुम्हारे भाऐं हाँसी।
या जीवन तैं मरन भलौ है, करवट लैहैं कासी।
पूरब प्रीति सँभारि हमारी, तुमकौं कहन पठायौ।
हम तौ जरि बरि भस्म भईं तुम, आनि मसान जगायौ।
कै हरि हमकौ आनि मिलावहु, कै लै चलिये साथै।
सूर-स्याम बिनु प्रान तजति हैं, दोष तुम्हारे माथै॥

(६३)

हमकौं हरि की कथा सुनाउ।
ये आपनी ज्ञान गाथा अलि, मथुरा ही लै जाउ।
नागरि नारि भलै समझैंगी, तेरौ बचन बनाउ।
पा लागौं ऐसी इन बातनि, उनही जाइ रिझाउ।
जौ सुचि सखा स्याम सुन्दर कौ, अरु जिय मैं सति भाउ।
तौ बारक आतुर इन नैननि, हरि मुख आनि दिखाउ।
जो कोउ कोटि करै, कैसिहूँ बिधि, बल विद्या व्यवसाउ।
तउ सुनि सूर मीन कौं जल बिनु, नाहि न और उपाउ॥

(६४)

ऊधौ तुम ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछैं यह सिद्ध आपनी, जोग कथा बिस्तारौ।

जा कारन तुम पठए माधौ, सो सोचौ जिय माही।
केतिक बीच बिरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाही।
तुम परवीन चतुर कहियत हौ, संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़न अवलंब फेन कौ, फिरि-फिरि कहा सकत हौ।
वह मुसकान मनोहर चितवनि, कैसैं उर तैं टारौं।
जोग जुक्ति अरु मुक्ति परम निधि, वा मुरली पर वारौं।
जिहि उर कमल-नयन जु बसत है, तिहिं निरगुन क्यों आवै।
सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरौ भावै॥

(९५)

ऊधौ हरि काहे के अन्तरजामी।
अजहुँ न आइ मिलत इहिं अवसर, अवधि बतावत लामी।
अपनी चोप आइ उड़ि बैठत, अलि ज्यौं रस के कामी।
तिनकौं कौन परेखौ कीजौ, जे है गरुड़ के गामी।
आई उघरि प्रीति कलई सी, जैसी खाटी आमी।
सूर इते पर अनखनि मरियत, ऊधौ पवित मामी॥

(९६)

निरगुन कौन देस कौ बासी।
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँचि न हाँसी।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि को दासी?
कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहि रस मैं अभिलाषी?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, सूर सबै मति नासी॥

(९७)

सुनि-सुनि ऊधौ आवति हाँसी।
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कंस की दासी।
इन्द्रादिक की कौन चलावै, संकर करत खवासी।
निगम आदि बन्दीजन जाके, सेष सीस के बासी।
जाकैं रमा रहति चरननि तर, कौन गनै कुबिजा सी।
सूरदास-प्रभु दृढ़ करि बाँधे, प्रेम-पुंज की पासी॥

(९८)

काहे कौ गोपीनाथ कहावत ।
जौ मधुकर वै स्याम हमारे, क्यों न इहाँ लौं आवत ।
सपने की पहिचानि मानि जिय, हमहिं कलंक लगावत ।
जो पै कूबरी रीझे, सोइ किन बिरद बुलावत ।
ज्यौं गजराज काज के औरै, औरै दसन दिखावत ।
ऐसैं हम कहिबे सुनिबे कौ, सूर अनत बिरमावत ॥

(९९)

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै ।
मूरी के पातनि के बदलैं, को मुक्ताहल दैहै ।
यह ब्योपार तुम्हारो ऊधौ, ऐसैं धर्‌यौ रैहै ।
जिन पै तैं लै आए ऊधौ, तिनहिं के पेट समैहै ।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै ।
गुन करि मोही सूर सावरैं, को निरगुन निरबैहै ॥

(१००)

ऊधौ तुम ही निकट के बासी ।
यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िया बसैं कासी ।
मुरलीधरन सकल अंग सुन्दर, रूप सिंधु की रासी ।
जोग बटोरे लिए फिरत हौ, ब्रजबासिन की फाँसी ।
राजकुमार भलैं हम जाने, घर मैं कंस की दासी ।
सूरदास जदुकुलहि लजावत, ब्रज में होति है हाँसी ॥

(१०१)

गोपी सुनहु हरि सन्देस ।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष ।
मैं कहौं सो सत्य मानहु, सगुन डारहु नाखि ।
पंच त्रय-गुन सकल देही, जगत ऐसौ भाखि ।
ज्ञान बिनु नर-मुक्ति नाहीं, यह विषय संसार ।
रूप-रेख, न नाम जल थल, बरन अबरन सार ।
मातु पितु कोउ नाहि नारी, जगत मिथ्या लाइ ।
सूर सुख-दुख नहीं जाकैं, भजौ ताकौं जाइ ॥

(१०२)

ऐसी बात कहौ जनि ऊधौ ।
कमल नैन की कानि करति हैं, आवत बचन न सूधौ ।
बातनि ही उड़ि जाहिं और ज्यौं, त्यौं नाहीं हम काँची ।
मन, बच, कर्म सोधि एकै मत, नंद-नँदन रँग राँची ।
सो कुछ जतन करौ पालागौ, मिटै हिये को सूल ।
मुरलीधरहिं आनि दिखरावहु, ओढ़े पीत दुकूल ।
इनहीं बातनि भए स्याम तनु, मिलवत हौ गढ़ि छोलि ।
सूर बचन सुनि रह्यौ ठगौ सो, बहुरि न आयौ बोलि ॥

(१०३)

फिरि-फिरि कहा बनावत बात ।
प्रातकाल उठि खेलत ऊधौ, घर-घर माखन खात ।
जिनकी बात कहत तुम हमसौं, सो है हमसौं दूरि ।
ह्याँ हैं निकट जसोदा-नंदन, प्रान सजीवन मूरि ।
बालक संग लिऐं दधि चोरत, खात खवावत डोलत ।
सूर सीस नीचौ कत नावत, अब काहैं नहिं बोलत ॥

(१०४)

ऊधौ हमहिं न जोग सिखैयै ।
जिहिं उपदेश मिलैं हरि हमकौ, सो ब्रत नेम बतैयै ।
मुक्ति रहौ घर बैठि आपने, निर्गुन सुनि दुख पैयै ।
जिहिं सिर केस कुसुम भरि गूँदे कैसैं भस्म चढ़ैयै ।
जानि-जानि सब मगन भई हैं, आपुन आपु लखैयै ।
सूरदास-प्रभु सुनहु नवौ निधि, बहुरि कि इहिं ब्रज अइयै ॥

(१०५)

मधुकर स्याम हमारे ईस ।
तिनकौ ध्यान धरैं निसि बासर, औरहिं नवैं न सीस ।
जोगिनि जाइ जोग उपदेसहु, जिनके मन दस-बीस ।
ऐकै चित एकै वह मूरति, तिन चितवति दिन तीस ।
काहैं निरगुन ग्यान आपनौ, जित कित डारत खीस ।
सूरदास प्रभु नंदनँदन बिनु, हमरे को जगदीस ॥

(१०६)

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै, मथुरा जबहिं सिधारे।
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि, अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झँखति स्याम की करनी मन लै जोग पठाए।
अजहूँ मन अपनौ हम पावैं, तुम तैं होइ तौ होइ।
सूर सपथ हमैं कोटि तिहारी, कहौं करैंगी सोइ॥

(१०७)

ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को आराधै ईस।
इंद्री सिथिल भई केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम सुंदर के, सकल जोग के ईस।
सूर हमारैं नंद-नँदन बिनु, और नहीं जगदीस॥

(१०८)

इहिं उर माखन चोर गड़े।
अब कैसैं निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े।
जदपि अहीर जसोदा-नंदन, कैसैं जात छँड़े।
ह्वाँ जादौपति प्रभु कहियत हैं, हमैं न लगत बड़े।
को बसुदेव देवकी नंदन, को जानै को बूझै।
सूर नंदनंदन के देखत, और न कोऊ सूझै॥

(१०९)

बिलग जनि मानौ ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जे आवैं ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे कुटिल सँवारे।
कमलनैन की कौन चलावै, सबहिनि मैं मनियारे।
मानौ नील माट तैं काढ़े, जमुना आइ पखारे।
तातैं स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम गुन न्यारे॥

(११०)

ऊधौ भली भई ब्रज आए।
बिधि कुलाल कीन्हे काँचे घट, ते तुम आनि पकाए।

रँग दीन्हौ हो कान्ह साँवरें, अंग-अंग चित्र बनाए।
यातैं गरे न नैन नेह तैं, अवधि अटा पर छाए।
ब्रज करि अँवा जोग ईंधन करि, सुरति आनि सुलगाए।
फूंक उसास बिरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए।
भरे सँपूरन सकल प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए।
राज काज तैं गए सूर प्रभु, नँद-नंदन कर लाए॥

(१११)

ऐसौ जोग न हम पै होइ।
आँखि मूँदि कह पावैं ढूंढ़े, अँधरे ज्यौं टकटोइ।
भसम लगावन कहत जु हमकौ, अंग कुंकया धाइ।
सुनि कै बचन तुम्हारे ऊधौ, नैना रोवत रोइ।
कुंतल कुटिल मुकुट कुंडल छवि, रह्यो जु चित मैं पोइ।
सूरज प्रभु बिनु प्रान रहै नहिं, कोटि करौ किन कोइ॥

(११२)

ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधौ गाँठि छूटि परिहै कहुं, फिरि पाछै पछिताहु।
ऐसौ बहुत अनूपम मधुकर, मरम न जानै और।
ब्रज बनितनि के नहीं काम की, है तुम्हरेई ठौर।
जो हित करि पठयौ मनमोहन, सो हम तुमकौं दीनौ।
सूरदास ज्यौं बिप्र नारियर, करही बंदन कीनौं॥

(११३)

बिलग हम मानैं ऊधौ काकौ।
तरसत रहे बसुदेव देवकी, नहिं हित मातु पिता कौ।
काके मातु पिता कौ काकौ, दूध पियौ हरि जाकौ।
नंद जसोदा लाड़ लड़ायौ, नाहिं भयौ हरि ताकौ।
कहियौ जाइ बनाइ बात यह, को हित है अबला कौ।
सूरदास प्रभु प्रीति है कासौं, कुटिल मीत कुबिजा कौ॥

(११४)

मधुकर भली करी तुम आए।
वै बातें कहि कहि या दुख मैं ब्रज के लोग हँसाए

मोर मुकुट मुरली पीतांबर, पठवहु सौंज हमारी
आपुन जटाजूट, मुद्रा धरि, लीजै भस्म अधारी
कौन काज वृन्दावन कौ सुख, दही भात की छाक
अब वै स्याम कूबरी दोऊ, बने एक हो ताक
वै प्रभु बड़े सखा तुम उनके, जिनकैं सुगम अनीति
या जमुना जल कौ सुभाव यह, सूर बिरह की प्रीति।

(११५)

काहे कौं रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तैं, राजपंथ क्यौं रूधौ
कैं तुम सिखि पठए हौ कुबिजा, कह्यौ स्यामघनहूँ धौं
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ, जुवतिनि जोग कहूँ धौं।
ताकौ कहा परेखौ कीजै, जानै छाँछ न दूधौ
सूर-सूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज निबेरत ऊधौ।

(११६)

आयौ घोष बड़ौ ब्योपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज में आनि उतारी
फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी
धुरही तैं खोटौ खायौ है, लिये फिरत सिर भारी
इनकैं कहे कौन डहकावे, ऐसी कौन अनारी
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवैं, खारे कूप कौ वारी
ऊधौ जाहु सबारैं ह्याँ तैं, बेगि गहरु जनि लावहु
मुख माग्यौ पैहौ सूरज प्रभु, साहुहिं आनि दिखावहु।

(११७)

ऊधौ जोग कहा है कीजतु।
ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजतु
कीधौं कछू खिलौना सुंदर, की कछु भूषन नीकौ
हमरे नंद-नंदन जो चहियतु, मोहन जीवन जी कौ
तुम जु कहत हरि निगुन निरंतर, निगम नेति है रीति
प्रकट रूप की रासि मनोहर, क्यौं छाँड़े परतीति
गाइ चरावन गए घोष तैं अबहीं हैं फिरि आवत
सोई सूर सहाइ हमारे, वेनु रसाल

(११८)

हमारै हरि हारिल की लकरी।

मनक्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनत जोग लागत है ऐसौ, ज्यौं करुई ककरी।
सु तौ ब्याधि हमकौं लै आए, देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी॥

(११९)

ऊधौ मन माने की बात।

दाख छुहारा छाँडि अमृत-फल, बिषकीरा बिष खात।
ज्यौं चकोर कौं देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ मैं, बँधत कमल के पात।
ज्यौं पतंग हित जानि आपनौ, दीपक सौं लपटात।
सूरदास जाकौ मन जासौं, सोई ताहि सुहात॥

(१२०)

लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत।

कहा कहौं ब्रजनाथ चरित, अंतरगति लूटत।
वह चितवनि वह चाल मनोहर, वह मुसकानि मंद-धुनि गावनि।
नटवर-भेष नंद-नंदन कौ वह बिनोद, वह बन तैं आवनि।
चरन कमल की सौंह करति हौ, यह संदेस मोहिं बिष लागत।
सूरदास पल मोंहिं न बिसरति, मोहन मूरति सोवत जागत॥

(१२१)

बिनु गुपाल बैरिनि भईं कुंजैं।

तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं बिषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भईं-भुंजैं।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग-जोवत अँखियाँ भईं छुंजैं॥

(१२२)

अब अति चकितवंत मन मेरौ।

आयौ हो निरगुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ।

जो मै ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहि न परस्यौ नैरो।
अति अज्ञान कछु कहत न आवै, इत भयौ हरि केरौ।
निज जन जानि-मानि जतननि तुम, कीन्हो नेह घनेरौ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ॥

(१२३)

ऊधौ जब ब्रज पहुँचे जाइ।
तब की कथा कृपा करि कहियै, हम सुनिहैं मन लाइ।
बाबा नंद, जसोदा मैया, मिले कौन हित आइ ?
कबहूँ सुरति करत माखन की, किधौ रहे बिसराइ।
गोप सखा दधि-भात खात बन, अरु चाखते चखाइ।
गऊ बच्छ मुरली सुनि उमड़त, अब जु रहत किहि भाइ।
गोपिन गृह व्यवहार बिसारे, मुख सन्मुख सुख पाइ।
पलक ओट निमि पर अनखातीं, यह दुख कहाँ समाइ।
एक सखी उनमें जो राधा, लेति मनहिं जु चुराइ।
सूर स्याम यह बार-बार कहि, मनही मन पछिताइ॥

(१२४)

ब्रज तैं द्वै रितु पै न गई।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि, तुम विनु राधिक भई।
ऊर्ध्व उसास समीर नैन घन, सब जल जोग जुरे।
बरषि प्रगट-कीन्हे दुख दादुर, हुते जो दूरि दुरे।
विषम बियोग जु वृष दिनकर सम, हिय अति उदौ करै।
हरि-पद बिमुख भए सुनि सूरज, को तन ताप हरै॥

(१२५)

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गाइनि की अवसेरि मिटावहु, मिलहु आपने ग्वाल।
नाचत नहीं मोर ता दिन तैं, रटत न बरषा-काल।
मृग दुबरे तुम्हरे दरसन बिनु, सुनत न बेनु रसाल।
बृन्दावन हरयौ होत न भावत देख्यौ स्याम तमाल।
सूरदास मैया अनाथ है घर चलिबै

(१२६)

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृन्दावन गोकुल वन उपवन, सघन कुंज की छाहीं।
प्रात समय माता जसुमति अरु, नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यौ सजायौ, अति हित साथ खवावत।
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत, सब दिन हँसत सिरात।
सूरदास धनि-धनि ब्रजबासी, जिनसौं हित जदु-तात॥

(१२७)

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजनि की छांहीं।
वै सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥

(१२८)

हरि जू वै सुख बहुरि कहाँ।
जदपि नैन निरखत वह मूरति, फिर मन जात तहाँ?
मुख मुरली सिर मौर पखौवा, गर घुँघचिनि कौ हार।
आगैं धेनु रेनु तन मंडित, तिरछी चितवनि चार।
राति दिवस सब सखा लिए संग, हँसि मिलि खेलत खात।
सूरदास प्रभु इत उत चितवत, कहि न सकत कछु बात॥

(१२९)

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव, राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहि अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
प्रभु राधा माधव ब्रज-बिहार नित नई-नई

(१३०)

कैसें मिले पिय स्याम सँघाती ।
कहियै कत कौन बिधि परसे, बसन कुचील छीन अति गाती ।
उठिकै दौरि अंक भरि लीन्हो, मिलि पूछी इत-उत कुसलाती ।
पटतैं छोरि लिए कर तंदुल, हरि समीप रुकमिनी जहाँ ती ।
देखि सकल तिय स्याम-सुंदर गुन, पट दै ओट सबै मुसक्याती ।
सूरदास प्रभु नवनिधि दीन्ही, देते और जो तिय न रिसाती ।।

(१३१)

हरि बिनु कौन दरिद्र हरै ।
कहत सुदामा सुनि सुंदरि, हरि मिलन न मन बिसरै ।
और मित्र ऐसी गति देखत, को पहिचान करै ।
बिपति परैं कुसलात न बूझैं, बात नहीं बिचरै ।
उठि भेटे हरि तंदुल लीन्हे, मोहिं न बचन फुरै ।
सूरदास लछि दई कृपा करि, टारी निधि न टरै ।।

(१३२)

तब तैं बहुरि न कोऊ आयौ ।
वहै जु एक बेर ऊधौ सौं, कछु संदेसौ पायौ ।
छिन-छिन सुरति करत जदुपति की, परत न मन समुझायौ ।
गोकुलनाथ हमारे हित लगि, लिखि हू क्यौं न पठायौ ।
यहै विचार करौं हित धौं सजनी, इतौ गहरु क्यौं लायौ ।
सूर स्याम अब बेगि न मिलहू, मेघनि अंबर छायौ ।।

(१३३)

बहुरी हो ब्रज बात न चाली ।
वहै सु एक बेर ऊधौ कर, कमल नयन पाती है घाली ।
पथिक तिहारे पा लागति हौं, मथुरा जाहु जहाँ बनमाली ।
कहियौ प्रगट पुकारि द्वार ह्वै, कालिंदी फिर आयौ काली ।
तब वह कृपा हुती नंदनंदन, रुचि-रुचि रसिक प्रीति प्रतिपाली ।
माँगत कुसुम देखि ऊँचे द्रुम, लेते उछंग गोद करि आली ।
अब वह सुरति होति उर अन्तर, लागति काम बान की भाली ।
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन, सुमिरत दुसह सूल उर साली ।।

(१३४)

तुम्हारे देस कागद मसि खूटी ।
भूख प्यास अरु नींद गई सब, विरह लयौ तन लूटी।
दादुर मोर पपीहा बोले, अवधि भई सब झूठी।
पाछैं आइ तुम कहा करौगे, जब तन जैहै छूटी।
राधा कहति संदेस स्याम सौं, भई प्रीति की टूटि।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, सखी करति हैं कूटि॥

(१३५)

नैना भए अनाथ हमारे ।
मदन गुपाल उहाँ तै सजनी, सुनियत दूरि सिधारे।
वै समुद्र हम मीन बापुरी, कैसे जीवैं न्यारे।
हम चातक वै जलद स्याम-घन, पियति सुधा-रस प्यारे।
मथुरा बसत आस दरसन की, जोइ नैन मग हारे।
सूरदास हमकौं उलटी बिधि, मृतकहूं तैं पुनि मारे॥

(१३६)

उती दूर तैं को आवै री ।
जासौं कहि संदेस पठाऊँ, सो कहि कहन कहा पावै री।
सिंधुकूल इक देस बसत है, देख्यौ सुन्यौ न मन धावै री।
तहँ नव-नगर जु रच्यौ नंद-सुत, द्वारावति पुरी कहावै री।
कंचन के बहु भवन मनोहर, रंक तहाँ नहिं त्रन छावै री।
ह्वाँ के बासी लोगनि कौं क्यों, ब्रज कौ बसिबौ मन भावै री।
बहु बिधि करति बिलाप बिरहिनी, बहुत उपायनि चित लावै री।
कहा करौं कहँ जाउँ सूर प्रभु, को हरि पिय पै पहुँचावै री॥

(१३७)

हौं कैसौं कै दरसन पाऊँ ।
सुनहु पथिक उहिं देस द्वारिका जौ तुम्हरे संग जाऊँ।
बाहर भीर बहुत भूपनि की, बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग भामिनि की, तिहिं ठाँ काहि पठाऊँ।
बुधि बल जुक्ति जतन करि उहिं पुर, हरि पिय पै पहुँचाऊँ।
अब बन बसि निसि कुंज रसिक बिनु, कौनैं दसा सुनाऊँ।

श्रम कै सूर जाउँ प्रभु पासहि, मन सै भलैं मनाऊँ।
नव-निकोर मुख मुरलि बिना इन, नैननि कहा दिखाऊँ॥

(१३८)

तातै अति मरियत अपसोसनि।
मथुरा हु तैं गए सखी री, अब हरि कारे कोसनि।
यह अचरज सु बड़ौ मेरे जिय, यह छाड़नि वह पोषनि।
निपट निकाम जानि हम छाँडी, ज्यौं कमान बिन गोसनि।
इक हरि के दरसन बिनु मरियत, अरु कुबिजा के ठोसनि।
सूर सु जरनि कहा उपजी जो, दूरि होति करि ओसनि॥

(१३९)

माई री कैसै बनै हरि कौ ब्रज आवन।
कहियत है मधुबन तै सजनी, कियौ स्याम कहुँ अनत गवन।
अगम जु पंथ दूर दच्छिन दिसि, तहँ सुनियत सखि सिंधु लवन।
अब हरि ह्वाँ परिवार सहित गए, मग में मारयौ कालजवन।
निकट बसत मतिहीन भई हम, मिलिहुँ न आई सुत्यागि भवन।
सूरदास तरसत मन निसि-दिन, जदुपति लौं लै जाइ कवन॥

(१४०)

सुनियत कहुँ द्वारिका बसाई।
दच्छिन-दिशा तीर सागर कै, कंचन कोटि गोमती खाई।
पंथ न चलै संदेस न आवै, इतनी दूर नर कोऊ न जाई।
सत जोजन मथुरा तें कहियत, यह सुधि एक पथिक पै पाई।
सब ब्रज दुखी नंद जसुदा हू, इक टक स्याम राम लव लाई।
सूरदास प्रभु के दरसन बिनु, भई विदित ब्रज काम दुहाई॥

(१४१)

बीर बटाऊ पाती लीजौ।
जब तुम जाहु द्वारिका नगरी, हमरे रसाल गुपालहिं दीजौ।
रंगभूमि रमनीक मधुपुरी, रजधानी ब्रज की सुधि कीजौ।
छार समुद्र छाँडि किन आवत, निर्मल जल जमुना कौ पीजौ।
या गोकुल की सकल ग्वालिनी देति असीस बहुत जुग जीजौ
सूरदास प्रभु हमरे कौतें के पाईं परीजौ।

(१४२)

रुकमिनि मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।

वह क्रीड़ा वह केलि जमुन तट, सघन कदम की छाहीं।

गोप बधुनि की भुजा कंध धरि, बिहरत कुंजनि माहीं।

और बिनोद कहाँ लगि बरनौं, बरनत बरनि न जाहीं।

जद्यपि सुख निधान द्वारावति, गोकुल के सम नाहीं।

सूरदास घनस्याम मनोहर, सुमिरि-सुमिरि पछिताहीं॥

(१४३)

रुकमिनि चलौ जन्म भूमि जाहिं।

जद्यपि तुम्हरौ बिभव द्वारिका, मथुरा कै सम नाहिं।

जमुना के तट गाइ चरावत, अमृत जल अँचवाहिं।

कुंज केलि अरु भुजा कंध धरि, सीतल द्रुम की छाँहिं।

सरस सुगंध मंद मलयानिल, बिहरत कुंजन माहिं।

जो क्रीड़ा श्री बृन्दाबन मैं, तिहुँ लोक मे नाहिं।

सभी ग्वाल नंद अरु जसुमति, मन चित तैं न टराहिं।

सूरदास प्रभु चतुर सिरोमनि, तिनकी सेव कराहिं॥

(१४४)

नंद जसोदा सब ब्रजबासी।

अपने-अपने संकट साजिके, मिलन चले अबिनासी।

कोउ गावत कोउ बेनु बजावत, कोउ उतावल धावत।

हरि दरसन की आसा कारन, बिबिध मुदित सब आवत।

दरसन कियौ आइ हरि जू कौ, कहत स्वप्न कै साँची।

प्रेम मगन कछु सुधि न रही अंग, रहे स्याम रंग राँची।

जासौं जैसी भाँति चाहिये, ताहि मिले त्यौं धाइ।

देस-देस के नृपति देखि यह, प्रीति रहे अरगाइ।

उमँग्यौ प्रेम समुद दुहूँ दिसि, परिमिति कही न जाइ।

सूरदास यह सुख सो जानै, जाकैं हृदय समाइ॥

(१४५)

तेरौ जीवन मूरि मिलहि किन भाई।

महाराज जदुनाथ कहावत, तबहि हुते सिसु कुंवर कन्हाई।

पानि परे भुज धरे कमल मुख, पेखत पूरब कथा चलाई
परम उदार पानि अवलोकत, हीन जानि कछु कहत न जाई
फिरि-फिरि अब सनमुख ही चितवति, प्रीति सकुच जानी जदुराई
अब हँसि भेंटहु कहि मोहिं निज मन, बाल तिहारो नंद दुहाई
रोम पुलक गदगद तन तीछन, जलधारा नैननि बरषाई
मिले सु तात, मात, बांधव सब, कुसल-कुसल करि प्रस्न चलाई
आसन देह बहुत करी बिनती, सुत धोखैं तब बुद्धि हिराई
सूरदास प्रभु कृपा करी अब, चितहिं धरे पुनि करा बड़ाई।

(१४६)

माधव या लगि है जग जीतत।
जानैं हरि सौ प्रेम पुरातन, बहुरि नयौ करि लीजत
कहँ ह्वाँ तुम जदुनाथ सिंधु तट, कहँ हम गोकुल बासी
वह बियोग, यह मिलन कहाँ अब, काल चाल औरासी
कहँ रबि राहु कहाँ यह अवसर, बिधि संजोग बनायौ
उहि उपकार आजु इन नैनानि, हरि दरसन सचुपायौ
तव अरु अब यह कठिन परम अति, निमिषहूँ पीर न जानी
सूरदास प्रभु जानि आपने, सबहिनि सौं रुचि मानी।

(१४७)

सबहिनि तैं हित है जन मेरौ।
जनम-जनम सुनि सुबल सुदामा, निबहौं यह प्रन बेरौ
ब्रह्मादिक इंद्रादिक नेऊ, जानत बल सब केरौ
एकहि साँस उसास त्रास उहि, चलते तजि निज खेरौ
कहा भयौ जो देस द्वारिका, करिहौं दूर बसेरौ।
आपुन ही या ब्रज के कारन, करिहौं फिरि-फिरि फेरौ
इहाँ-उहाँ हम फिरत साधु हित, करत असाधु अहेरौ
सूर हृदय तैं टरत न गोकुल, अंग छुअत हौं तेरौ।

(१४८)

हम तौ इतनै हौ सचु पायौ।
सुन्दर स्याम कमल दल-लोचन, बहुरौ दरस दिखायौ।
कहा भयौ जो लोग कहत हैं, कान्ह द्वारिका छायौ।
सुनिकैं बिरह दसा गोकुल की, अति आतुर ह्वै धायौ।

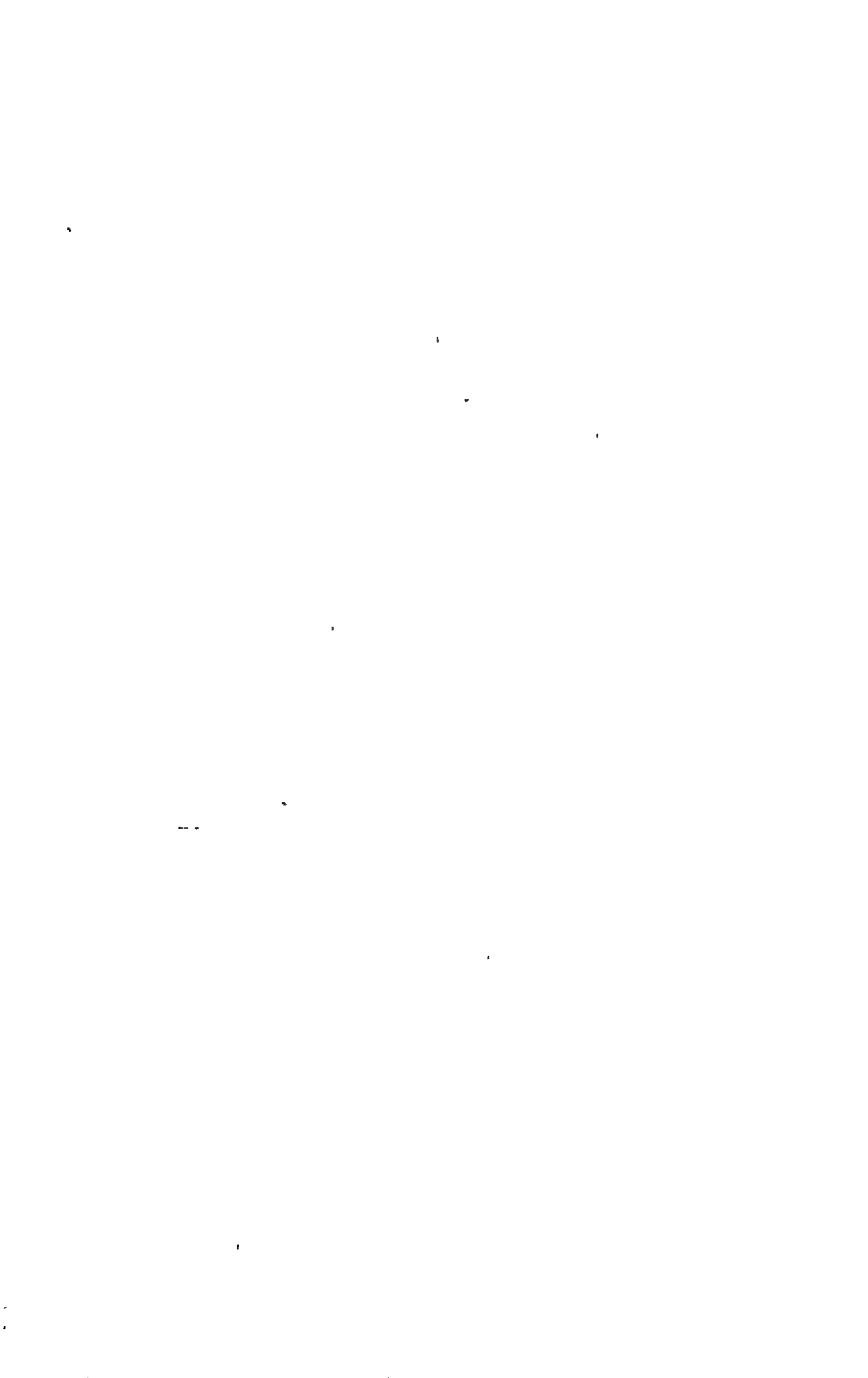
रजक धेनु गज कंस मारि कै, कीन्हौ जन कौ भायौ।
महाराज ह्वां मातु-पिता मिलि, तऊ न ब्रज बिसरायौ।
गोपि गोप अरु नंद चले मिलि, प्रेम समुद्र बढ़ायौ।
अपने बाल गुपाल निरखि मुख, नैननि नीर बहायौ।
जद्यपि हम सकुच जिय अपनैं, हरि हित अधिक जनायौ।
वैसेइ सूर बहुरि नंदनंदन, घर-घर माखन खायौ॥

(१४६)

रुकमिनि राधा ऐसैं भेंटी।
जैसैं बहुत दिननि की बिछुरी, एक बाप की बेटी।
एक सुभाव एक वय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी।
एक प्रान मन एक दुहुनि कौं, तन करि दीसति न्यारी।
निज मन्दिर लै गई रुकमिनि, पहनाई बिधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी॥

(१५०)

हरि जू इते दिन कहाँ लगाए।
तबहि अवधि मैं कहत न समुझी, गनत अचानक आए।
भली करी जु बहुरि इन नैननि, सुन्दर दरस दिखाए।
जानी कृपा राज काजहु हम, निमिष नहीं बिसराए।
बिरहिनि बिकल बिलोकि सूर प्रभु, धाइ हृदै करि लाए।
कछु इक सारथि सौं कहि पठयौ, रथ के तुरंग छुड़ाए॥



टिप्पणी

१— प्रस्तुत संकलन में सूरदास की प्रसिद्ध कृति 'सूरसागर' से ही पद लिये गये हैं। सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियों की दो परम्पराएँ हैं—एक है सर्वाधिक प्राचीन लीलाक्रम वाली और दूसरी है श्रीमद्भागवत के अनुसार द्वादश स्कन्धी क्रम की। यहाँ द्वादश स्कन्धी क्रम वाली नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर से ही संकलित अंश रखे गये हैं।

प्रथम पद विनय का पद है और मंगलाचरण के रूप में प्रयुक्त है। यह मंगलाचरण भी नमस्कारात्मक है, वस्तु निर्देशात्मक या आशीर्वादात्मक नहीं। कारण, इसमें 'बन्दौं' पद का प्रयोग है। मंगलाचरण के तीन रूप हैं और तीन प्रयोजन। रूप का उल्लेख ऊपर हो चुका है और प्रयोजन हैं समाप्ति प्रतिबन्धक, प्रचार प्रतिबन्धक तथा यशः प्रतिबन्धक।

पाइ = पाँव। यहाँ देव विषयक रति की व्यंजना।

२—यह पद भी 'विनय' के ही अन्तर्गत है। देहि पीठि = उपेक्षा करना।

३— पियादे = पैदल, नंगे पाँव। नामदेव वारकरी सन्त थे। कहा जाता है घर में आग लग जाने पर उन्होंने उसे बुझाया नहीं, अपितु जो कुछ था भी उसे उसमें डाल दिया इस पर प्रसन्न होकर भगवान् ने रात भर मे स्वयं उनका घर छा दिया।

४—माया = जीवाश्रित अविद्या माया। मायानटी में रूपक अलंकार है। "ज्यौं......... ....." में उपमा का विधान है।

५—पारधि = शिकारी, सचान = बाज।

६—आछौ गात = सुन्दर शरीर। गार्यौ = नष्ट कर दिया। चार्यौ = चारों अर्थात् चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु। वैसे तो दो चर्मचक्षु तथा एक ज्ञानचक्षु प्रसिद्धि तीन की है, पर बाहर के सादृश्य पर भीतर की भी दो आँखें मान ली गयीं और संख्या चार मान ली गयी। कुचील = (कुचैल) मलिन। रूपक तथा उपमा, वृत्ति अनुप्रास।

—इसमें नर्तक का रूपक सांगोपांग निभाया गया है। चोलना = ढीला-ढाला कुरता। भोगी = भीना हुआ। रसाल = रसमय।

८—तन माया ज्यौं ब्रह्म......... = माया और ब्रह्म के मिलने से सत्य और असत्य के मिल जाने से सब गड़बड़ी हो गयी है पर यह अब

शंकरमतानुसार संगत है। वल्लभ मत में तो माया ब्रह्म की शक्ति ही है - वे दो है ही नहीं. मिलने और मिलकर बिगड़ने—दोनों की स्थिति नहीं है। हाँ, माया का अर्थ अविधा माया लिया जाय तब ब्रह्म से अभिन्न जीव मिलकर अवश्य पथभ्रष्ट हो सकता है।

पद ९—इस पद मे उपमा और दृष्टान्त अलंकार है।

करील = यह ऐसी झाड़ी है जिसमे पत्तियाँ नहीं होतीं और फल कसैला होता है। इसे टेंटी कहते हैं।

पद १०—रीतो करत = खाली करत। अरगजा = शरीर में लगाने का एक सुगन्धित द्रव्य।

पद ११—गीध्यौ = लिप्त रहा। वल्लभ के मत में 'जगत्' और 'संसार' मे अन्तर है—'संसार' अविद्यामाया द्वारा उत्पादित मैं—मोर, तैं तोर का गलत बोध है।

पद १२—इस पद में रूपक का अच्छा निर्वाह है—अंगोपांग सहित। भगवान् के चरण सरोवर है—जीवात्मा रूपी चकई के लिए वहाँ भ्रम की रात्रि आती ही नही, अतः वियोगजन्य दुःख की सम्भावना ही नहीं है। छीलर = छिछला ताल। डॉ. बाहरी चकई के मन को और पं. सीताराम चतुर्वेदी 'बुद्धि' को लेते हैं तथा 'मन' को चकवा समझते हैं जो चकई को सम्बोधित कर रहा है।

पद १३—नलिनी = कमलिनी, सुवटा = तोता। इसमें उपमा की माला यानी मालोपमा की छटा सुन्दर है।

पद १४—कठुला = नजर लगने से बचाने के लिए बच्चों के गले में पहनाने की एक माला, जिसमे चाँदी-सोने की चौकियों के साथ-साथ बाघ के नख आदि गुंथे रहते हैं। इस पद की तीसरी पंक्ति मे वाच्य (मनु) उत्प्रेक्षा का उत्तम विधान किया गया है।

पद १५—इस पद मे एक काव्योचित कल्पना है। वह यह है कि नन्द का आँगन मणिमय और सुनहला है—स्वच्छ है। घुटनों के बल चलते हैं—चलते समय उनकी परछाईं दिखायी पडती है और उसी को पकड़ने के लिए बार-बार उमसते हैं। हाथ-पाँव-मुख की परछाईं कमल की सी लगती हैं। उत्प्रेक्षा यह की जा रही है कि मानों वसुधा (पृथ्वी) ने प्रति पद कमल बिछा दिये हों कि उसी पर वे चलें।

पद १६—'लीला' एक पारिभाषिक शब्द है। भगवान् लीला रसिक हैं। लीला कार्य और कारण की परम्परा से ऊपर है—लीलाया: प्रयोजनं लीलैव। पुरुषोत्तम पूर्ण है जहाँ कोई अभाव है ही नहीं

पद १७—इस पद में एक अत्यन्त बालोचित तर्क है। वह इस प्रकार है—'मां, मैंने एक नहीं अनेक बार दूध पिया—पर इसका चोटी बढ़ने पर कोई असर ही नहीं होता। उसी इच्छा से घण्टे भर में कई बार दूध पिया गया। अथवा, यदि 'किती बेर' पाठ माना जाय—तो यह कि दूध पीते-पीते इतनी देर हो गयी और चोटी ज्यों की त्यों।

पद १८—सींके = छीका (सिकहर)। साँटि = पतली छड़ी। भक्ति = वात्सल्य-भक्ति।

पद १९—ढौंटा = लड़को। चरसि गयौ = (डर से) स्तब्ध हो गया। साऊ = साहु, साधु-सज्जन [औरस पुत्र]। चबाई = चुगलखोर।

पद २०—रिंगाइ = (बहुत समय तक) घुमाफिराकर।

पद २१—सख्यभाव का पद है। सख्यभाव का मूल है असंकोच।

पद २२—वही सख्यलीला का सन्दर्भ।

पद २४—कनौड़े ···· = कृतज्ञ ·· = ।

पद २५—षट्रितु = बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त।

पद २६—'कर पल्लव' में रूपक।

पद २७—'कमल नयन' में रूपक।

पद २८—रूपक अलंकार।

पद २९—अनेक उपमाएँ।

पद ३०—झर = ज्वाला। सिहर है ·········· में रूपकातिशयोक्ति।

पद ३१—रास का दृश्य है। व्रजभामिनी = व्रजांगना। मल्लिका = बेला। उत्प्रेक्षा अलंकार। 'अंग-अंग' में वीप्सा।

पद ३५—खौरि = मस्तक में लगा हुआ चन्दन का आड़ा तिलक। मनोभुजंग = ऊपर से लटकती हुई भुजा मानो आकाश से लटकता हुआ औंधा साँप है—नखगण मानो उसके सिर पर चमकती हुई मणियाँ हैं। स्वरूपोत्प्रेक्षा स्पष्ट है।

पद ३६—धनुष = वक्र भौंहें, बिबि = दो, खंजन = नेत्र। हेतूत्प्रेक्षा।

पद ३७—पलककलप—विचित्र प्रयोग है—इसमें एक चमत्कार है—पर यहाँ परिगणित शब्दालंकारों से भिन्न ही कोई अलंकार मानना पड़ेगा।

पद ३८—पौरी = ड्योढ़ी या द्वार।

पद ३९—गाथ = वचन, वाणी।

पद ४०— = चवाव = ·· · निंदा · ···

पद ४१—दार्शनिक पद है। एकाकी ब्रह्म लीला के लिए अनेक हो गया है।

पद ४२—वाच्य एवं प्रतीयमान उत्प्रेक्षा।

पद ४३—दवदाही = दावाग्निदग्ध। उत्प्रेक्षा और उपमा।

पद ४४—अलक लड़ैतो = लाड़ला, दुलारा।

पद ४५—चेप = चिड़ियों को फँसाने का लासा। काँपा = कंपा = बहेलियों की बाँस की पतली तीलियाँ (जिनमें लासा लगाकर वे चिड़ियों को पकड़ते हैं)।

पद ४६—छोजें = क्षीण पड़ती जा रही हैं। 'ब्रजबूड़त' में अत्युक्ति।

पद ४७—प्रजंक = पर्यंक = पलंग। प्रस्वेद = पसीना। विरहिणी गोपिकाएँ यमुना से अपनी तुलना कर रही हैं। हेतूत्प्रेक्षा तथा सांगरूपक।

पद ४८—विरह में सुखद वस्तुएँ किस प्रकार दुःखद हो जाती हैं, इसका अच्छा चित्रण है।

पद ४९—मधुवन को उपालम्भ है। रूपक 'विरहदवानल' में है।

पद ५०—रूपक गर्भ व्यतिरेक का बड़ा सुन्दर निर्वाह है।

पद ५१—परेखो = पछतावा।

पद ५२—मीड़ति = मलती हैं। माखियाँ = मक्खी। रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

पद ५३—निवारौं = निपटारा करूँ। रूपक—सांगरूपक।

पद ५६—बड़ा मार्मिक पद है। साँपिन की तरह रात डसकर उलट जाती है, रात्रि में चाँदनी का फैलना ही डसकर उलट जाना है।

पद ५८—अर्थान्तरन्यास की माला है।

पद ५९—उपमा।

पद ६०—विरह का सन्देश दिया गया है।

पद ६१—है तो उद्दीपन का चित्र पर चित्र अत्यन्त संश्लिष्ट है।
रूसिबे = नाराज होने।

पद ६२—इस पद में भी वर्षा का विरहोद्दीपक चित्र ही है।

पद ६३—सोध करें = खोज की। कितनी विवशता व्यंजित हो रही है? कागज मेघ से गल गये, मसिखूटी = ···कम पड़ गई···। सर = सरपत = लेखनी दावाग्नि से जल गयी। पलक के कपाट से आँखें भी बन्द हैं। 'वितर्क' भी मन में चल रहा है।

पद ६४—गोपियाँ कह रही हैं कि व्रज पर जो ये बादल गरजते चले आ रहे हैं—मथुरा से भेजी गयी कामदेव की सेना, लगता है सजाये चले आ रहे हैं। ग्रीवारन्ध्र = ग्रीवा में है रन्ध्र-छेद जिसके वह—चातक? पपीहा? ऐनआ बैन की जगह बैन पाठ भी है।

पद ६५—गोपियाँ कहती हैं कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् कि क्या बादल वृन्दावन में ही गरजते हैं—मथुरा में वर्षा ऋतु नहीं आती? यदि होती

तो गोपियों की भाँति कृष्ण का मन भी मथित हो जाता—वे भी गोपियों के लिए पागल हो जाते। लगता है इन्द्र को कृष्ण ने डाँट रखा है। मेढकों को साँपों ने खा लिया है, बक पंक्तियों ने रास्ते छोड़ दिये हैं, घरों में बूँदों का प्रवेश वर्जित हो गया है। रहे चातक, मोर और कोकिल—उनका चुन-चुनकर वधिकों ने वध कर डाला है। क्या वहाँ सखियाँ झूला नहीं झूलती ?

६६—उमड़े हुए काले बादलों को देखकर लगता है जैसे कृष्ण ही चले आ रहे हों—उनकी समता पूर्णतः बादलों में है. इन्द्र धनुष पीतवसन है, दामिनि दाँतों की चमक है, बक पंक्ति मुक्ता माला है, मन्द-मन्द ध्वनि कृष्ण की गम्भीर गिरा है। उत्प्रेक्षा अलंकार है।

६७—जो 'मोर' कहे जाते है—वे भी अपने न रहे—बैर ठान लिया है उन सभी ने। इनकी पाँखों को जो सिर चढ़ा रखा है, उसी का फल गोपियों को भुगतना पड़ रहा है। हेतूत्प्रेक्षा है।

६८—इस पद में गोपियाँ चातक की प्रशंसा कर रही हैं। कह रही हैं कि यह चातक ही है जो उनके साथ-साथ पिय-पिय नहीं, पी-पी रटता रहता है। 'य' तालव्य है, उसके बोलने में जीभ को तालु में लगाना पड़ता है, अतः केवल पी-पी रटता रहता है। पी-पी की बोली बोलकर यह स्वयं भी नामामृत पान करता है और गोपियों को भी जिलाता है।

६६—राधा कोकिल से कहती है कि यदि उसे बोलना ही है तो मथुरा जाकर कृष्ण को अपनी बोल सुना। कहीं-कहीं 'उपटारि' पाठ है और कहीं-कहीं 'मनुहारि'। मनुहारि का अर्थ मनाकर किया जाता है और उपटारि का—उत्पादन या उच्चाटन कर। बिसाहतु=खरीदता है। तुम्हारे बचन के बदले यदि लोग अपने को तुम्हें बेचने को तैयार हैं, तो क्यों नहीं खरीद लेते। किसी का काम करने से सुयश तो मिलता ही है।

७०—एक सखी दूसरी वीणावादिनी से कहती है कि वीणा को वह हाथ में न लिया करे। अन्यथा होता क्या है कि चन्द्र के रथ का वाहक हरिण उसे सुनने में तल्लीन हो जाता है और चलना बन्द कर उसी नाद के सुनने में तन्मय हो जाता है। फल यह होता है कि रात्रि बीतती ही नहीं—ठहर जाती है। बिरहिन की तपन बढ़ती जाती है और तब जो कष्ट होता है—वह उसे ही जानती है। हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है। कमल नयन में रूपक है।

७१—सखी को सम्बोधित करती हुई विरहिणी कह रही है कि इस चाँद को कोई मना भी नहीं करता। रथ को हाँकता हुआ थिर रहता है—

जल्दी अस्त भी नहीं होता और विरहिणी को जलाता रहता है। क्या सूर्य, ताम्रचूड़, कमल तथा काले मेघ आदि इसके दुश्मनों का भी कहीं पता नहीं। समुद्र-मन्थन न होता, तो ये पैदा न होते। समुद्र मन्थन में जिन-जिन का उपयोग हुआ वे सभी निन्दनीय हैं। जरा नाम की राक्षसी के हाथ जोड़ती हूँ कि वह यदि राहु और केतु को जोड़ देती — तो एक बार का निगला गया चाँद फिर न बाहर आता। जल के बिना तड़पती मछली की तरह विरहिन की दशा हो रही है।

पद ७२—स्पष्ट है।

पद ७३—विरहिणी को एक तरफ इस बात की असह्य वेदना है कि अब वे दिन, वे लीलाएँ फिर नहीं मिलने की। फिर भी आशा भी क्या है कि दिलासा दिलाती रहती है कि शायद फिर आ जायें—अतः कण्ठगत प्राण भी देह को असह्य पीड़ा सहकर भी नहीं छोड़ते। काव्यलिंग अलंकार।

पद ७४—गोपियाँ सोच रही हैं कि अब उस राजपरिवेश को छोड़कर गोपी ग्वालों की सूखी बस्ती में क्यों आयेंगे? अब, उनकी आदत बिगड़ चुकी है—अब उनको यहाँ रहना क्यों अच्छा लगेगा। पातिहुँ = पत्र भी।

पद ७५—उपंगसुत = उद्धव। उन्हें सखा उद्धव के प्रति इस बात का खेद है कि कहाँ यह उत्तम देह और कहाँ तदनुरूप भाव-भक्ति का अभाव। इसका एक ही रास्ता है कि इसे गोपियों के पास भेज दिया जाय।

पद ७६—गोपियों के प्रति उफनती हुई चिन्मयी भाव धारा के मर्म से अपरिचित शुष्क ज्ञानी उद्धव कृष्ण की बेकली पर हँसता है और आनन्दमय स्वरूप में ही रमण करने का पक्ष सुझाता है।

पद ७७—गोपियाँ कृष्ण द्वारा प्रेषित पत्रिका को निरख रही हैं। आँखों से स्मृति के अतिरेक में आँसुओं की धार उमड़ पड़ती है और पत्रिका की स्याही भीगकर फैल जाती है—पत्रिका श्याम रंग की हो जाती है। पुरानी स्मृति ताजी हो जाती है और मिलने की ललक अदम्य।

पद ७८—कांती = कतरनी (छुरी)।

ब्रजगोपियों को लक्षित कर भेजी गयी पत्रिका को गोपियाँ पढ़ती नहीं हैं। कारण यह है कि आँखें सजल हैं उनकी और कागज है कोमल। पकड़ें कैसे? विरह की आग से दहक रही हैं—हाथ की अँगुलियाँ—सुख तो साथ ले गये, धरोहर रख गये गोपियों के पास दुःख का। क्या कहा जाय?

पद ७९—निरखर बसई = गाँव की अहीरिन—पाती क्या पढ़ेगी? "उद्धव इसे

तो तुम उन्हीं के पास लौटा ले जाना।" हमारी आग तो तभी ठण्डी होगी जब वे ही मिलेंगे।

०— इसी बात-चीत के दौरान कहीं से उड़ता हुआ एक भ्रमर आता है। गोपियों को उद्धव को बनाने का अच्छा ब्याज मिल गया। भ्रमर के ब्याज से कृष्ण की करतूत पर भी हाथ फेरा जा सकता है। गोपियाँ भ्रमर से पूछती हैं—'कहो, कृष्ण ने तुम्हें भी तो नहीं भेजा है—लगते तो उन्हीं के रंग में रंगे हो। वृत्ति भी तुम्हारी उन्हीं की तरह व्यभिचरित है।" अथवा हो सकता है, सपत्नी कुब्जा ने भेजा हो।

१—"भ्रमर! कहो, कैसे आये? तुम्हें भी यदुनाथ ने ही भेजा है क्या? लगते तो उसी रंग-ढंग के हो। समझाया जाता है मन को—और वह मन, तो कृष्ण के साथ मथुरा में ही है—यहाँ तो तुम्हारा आना व्यर्थ गया।

२—**सरक**=नशे की खुमारी या नशा। **अपरस**=अस्पृश्य (यहाँ ब्रह्म रस)। **उघारे**=नग्न होकर, लोकलाज खोकर, बेहया होकर। गोपी मधुकर को ब्याज बनाकर कहती है कि मधु (ब्रह्मवाद) के मतवारे चुप रह। उसे निर्गुण (अपरस) से क्या लेना-देना। तू इतना मस्त हो गया है कि शराबी की तरह न केवल पराग के कीचड़ में पड़ा रहता है बल्कि बेहया की तरह उस नशे में नीरस ब्रह्म की ही रट लगाये रहता है। जैसे तुम पुष्पवती के क्षणभर को लिए मूर्ख बनाकर काम निकाल कर पीठ फेर लेते हो, वैसी ये ग्वालिनें नहीं हैं। असल में ये काले ऐसे हैं ही—इस रंग के लोग घड़ी-पहर फँसा ही लेते हैं। अपना नन्दकुमार नकद माल है, उधार क्यों किसी दूसरे को लिया जाय?

—गोपियाँ पुनः मधुकर को सम्बोधित करती हुई कहती हैं कि वह गोपियों को उन लताओं में न गिने जिनका रस लेकर पीठ फेर, और ही रंग में अन्यान्य पुष्पों के साथ रस केलि करता रहता है। ये वे लताएँ हैं जिन्हें बचपन से श्रेष्ठतम जल से प्रिय ने अपने हाथों बढ़ाया है। ये लताएँ उसी के स्पर्श से खिल सकती है, उसी वृन्दावनी तमाल से उलझी हुई है। वे ही इन लताओं के प्रेम-पुष्प-रस-वास से विलासित होते हैं। ये लताएँ प्रिय के रूप-डार से इस प्रकार चिपटी हुई हैं कि लाख योग की वायु बहे—हिल नहीं सकती।

—और फिर सबसे बड़ी बात यह कि अंग-अंग के स्वभाव जैसे बन गये हों। देखो न कुत्ते की पूँछ को—बदल दो स्वभाव उसका। बदल लो काक का, साँप का स्वभाव? है सम्भव?

पद ८५—उद्धव, एक उपकार तुमने अवश्य किया और वह यह कि जिन आँखों से तुमने श्याम को देखा है, उन आँखों को गोपियों को देखने का अवसर दे दिया। मधुप उस पवन से मिलकर कितना प्रसन्न होता है जिसमें अभीष्ट सुवास मिली रहती है।

पद ८६—कासी करवट=काशी करवट नाम का एक स्थान है जहाँ भक्त अपना सिर कर-पत्र (आरा) से कटवाता है। गोपियाँ उद्धव को सम्बोधित करती हुई कहती हैं कि वे तो आये और आँगन से फिर लौट गये, गले में फाँसी लटका गये, दे भी जाते तो भी गनीमत होती। अब तो उनको फिर से पाने के लिए काशी करवट ही लेनी होगी।

पद ८७—भलो-पोच=अच्छा-बुरा। जब से श्याम को देखा है पूरी चेतना से उन पर लहा लोट हो गयी हूँ—सभी छूट गये, लोक-लाज भी गयी। अब तो जो होना हो—हो,। अब तो प्रभु की दासी हो गयीं पूरे मन से।

पद ८८—उद्धव, निर्गुण का उपदेश निरर्थक है। ये आँखें बस एक ही रूप देखना चाहती हैं, उसी ओर सर्वात्मना समर्पित हो जाने का फल है कि वे पलकें तक गिराना भूल गयी हैं—एकटक राह देखती रहती हैं। अब तो छोड़ो और प्रपञ्च—जैसे भी हो, बस उन्हें मिला दो।

पद ८९—अरे साहब, मथुरा की मुहर जिस पर लग गयी—उसका क्या विश्वास? 'मुँह मे राम बगल में छुरी' अरे, इन्हें कितना भी वृन्दावन के घोंसले मे रखकर खिलाओ-पिलाओ—मथुरा में जाकर जिसके हैं उसी में मिल जाते हैं। हैं न कोयल के बच्चे, कैसा धोखा देते हैं—काक को? ऐसी ही एक भौंरों की भी जाति होती है—उनका भी पुष्प से काम निकला कि छुट्टी।

पद ९०—टाँडे=व्यापारिक सामान से लदे बैल। राँड़े=राँड़, वेश्या। कुलटा खाँडे=खड्डा। गाँडे=गन्ने। थाँड़े=सान, तैयार किये। झाला=कटुता, बकवास। डाँडे=दण्डित किया या दण्डित किये। तीनों .... कुम्हाँडे=यहाँ धनियाँ, धान तथा कुम्हड़ा—तीनों में से एक भी नहीं उपजता।

पद ९१—उद्धव ने गोपियों को फिर समझाया और कहा कि ज्ञान बिना कहीं कोई सुख नहीं। ऐसे तत्व की उपासना करो, जो सदा पास रहता है—सगुन की उपासना से तुम्हें केवल दुख ही तो मिला। कृषि .... पाहीं—ऐसी उपासना करने वाले की वही दशा होती है जो पाही (दूसरे गाँव या दूर पर) पर खेती करने वाले की होती है।

पद.९२—गोपियों ने फिर फटकारा—कहा सो कहा, फिर न दुहराना। बोलने

न आता हो, तो चुप रहो, क्यों मारना चाहते हो। यहाँ श्मशान जगाने आये हो, या पूर्व प्रीति का सन्देश देने ?

३—सुनाना ही है तो कृष्ण की कथा सुनाओ, जिससे व्यथा थोड़ी कम हो। शास्त्र और ज्ञान की बात तो मथुरा की नागरी औरतों को सुनाना—वे पात्र होंगी। यदि तुम श्याम के सखा हो और तुम्हारे भीतर सात्विक भाव है—तो इन आतुर नेत्रों के सामने या तो उन्हें ले आओ या हमें ही साथ ले चलो।

४—ऊधो, न तुमने वातावरण समझा और न ही उपदेश का पात्र—कुछ कहने से पहले वातावरण का रंग देखना चाहिए और सम्बोध्य की पात्रता। तुमने इन बातों का विचार किये बिना ही अपना पँवारा गाना शुरू कर दिया। किससे क्या कहना चाहिए इसका तुम्हें कोई विचार नहीं। जिसके हृदय में सगुण बसता हो, उससे निर्गुण का ध्यान करने को कहते हो।

५—सुना जाता है कि हरि अन्तर्यामी है—यदि यह सही होता तो तदनुरूप कार्य भी उनसे होता। अपनी गरज पर तो पुष्प पर भ्रमर की भाँति आ बैठते हैं—दूसरों की गरज पर लम्बी अवधि देते हैं। कलई कब तक असलियत को ढँकेगी ? खट्टा आम अपनी खटाई कब तक छिपा सकता है ? इतने पर भी गोपियाँ क्रोध में मरी जा रही हैं कि अब तक भी वे माफी दिये जा रहे हैं। माफी = दोष पर ध्यान न देने का भाव।

९६—ऊधो, यह तो बताओ कि निर्गुण रहता कहाँ है ? यहाँ तो एक सगुण की ही पारमार्थिक स्थिति मानी जाती है—यह दूसरा कहाँ से आ गया ? यह रहता कहाँ है ? इसका परिचय क्या है ? अगर तुमने छल-कपट किया तो अपने किये का फल तुम्हे भुगतना पड़ेगा। इस पर से तो ऊद्धव की वानी और मति—दोनों ही जवाब दे बैठीं।

९७—ऊधो, सुन-सुनकर हँसी आती है कि कहाँ ब्रह्मादि के स्वामी और कहाँ यह कुब्जा कंस की दासी ? कैसा संयोग है ? लेकिन वही दासी प्रेमपुंज के पाश में उन्हें दृढ़ता से दाबे बैठी है।

९८—ऐसा ही था, तो 'गोपीनाथ' विरुद क्यों धारण की ? हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और ?

९९—यह ठगौरी ब्रज में नहीं खपैगी। मूली का पत्ता देकर मूलफल लेना चाहते हो ? अंगूर छोड़कर निबकौड़ी कौन खायेगा ? ले जाओ वहीं, जहाँ से लाये हो—उन्हीं के पेट में यह समायेगा।

१००—मुड़िया = संन्यासिन।

पद १०१—उद्धव पुनः निर्गुण का उपदेश इस पद से दे रहे हैं।

पद १०२—गोपियाँ उत्तर देती है और कहती हैं गोपियां इतनी कच्ची नहीं हे कि बात करते ही उनकी आस्था हिल जायेगी। दिखाना है तो सूर स्याम को दिखाओ।

पद १०३—बार-बार क्या बात बना रहे हो? सिर क्यो नीचा किये हो—बताओ? जिनकी बात तुम कर रहे हो, वे गोपियों से बहुत दूर है—नजदीक है—यशोदानन्दन।

पद १०४—गोपियाँ योग नहीं सीखना चाहती, वे तो वह सब जानना चाहती है जिससे कृष्ण मिलें। निर्गुण और मुक्ति से उन्हे क्या लेना-देना? जिस शरीर पर केश लहराते रहे, पुष्पान्वित किये जाते रहे—उन पर भस्म चढ़ाना चाहते हो। वे तो अपने नवोनिधि को व्रज में देखना चाहती हैं।

पद १०५—गोपियाँ कहती है कि उनके ईश तो श्याम ही है—उनका सिर अन्यत्र नहीं झुक सकता। कारण यह है कि इनका मन एक ही है—और वह श्याम को समर्पित है—तीसों दिन उन्हीं में लगा रहता है उद्धव का ज्ञान उन जोगिनियों के काम का है जिनके मन दस-बीस है। उद्धव नाराज होकर व्यर्थ ही अपनी ज्ञानराशि को यहाँ-वहाँ फेंक रहे हैं।

पद १०६—गोपियो की अपनी विवशता भी है। एक ही मन था, उसे रथ पर चढ़ाकर वे ले गये—तो अब उद्धव के ज्ञान को वे ग्रहण किससे करे।

पद १०७—इस पद मे लगभग उक्त आशय ही वर्णित हैं।

पद १०८—दूसरी विवशता गोपियों की यह भी है कि उनके हृदय में त्रिभंगीलाल ऐसे धँस गये हैं कि निकालना असम्भव है। फिर यदुपति नही, यशोदानन्दन ही उन्हे रुचिकर हैं—करें तो क्या करें?

पद १०९—उद्धव भी उन्ही कारों में से एक हैं। मथुरा तो काजर की कोठरी है—वहाँ से जो आते हैं—वे सब ऊपर से भीतर तक काले ही होते है—वे चाहे ऊधव हों या अक्रूर। लगता है नीले माट से निकलकर यमुना मे पखारे हों—इसीलिए तो यमुना भी काली हो गयी है।

पद ११०—फिर एक दूसरी दृष्टि से सोचा जाय, तो लगता है ऊधव ने अच्छा ही किया—जो व्रज चले आये। ब्रह्मा ने इस घट (शरीर) को कच्चा ही बनाया था, तुमने तो पका दिया। साँवले ने अंग-अंग पर चित्र बनाकर इन्हें ऐसा रंग दिया कि इस अवधि (मिलने की) की अटारी पर छाये रहने के कारण नेत्र रूपी मेघों (जल की वर्षा करने वाले)

न भी ये गलाये न जा सके। अब तुमने ऐसा सन्देश क्या दिया, व्रज का अवाँ बना दिया, उसमें योग का ईंधन लगा दिया, आकर जो उनकी स्मृति जगा दी—मानो आग सुलगा दी, उसाँसों ने फूँककर उसे बढ़ा दिया—इस प्रकार प्रदीप्त विरह की आग में पका दिया। तदनन्तर दर्शन-ध्यान से उस आग को ठण्डा कर दिया। वह पका हुआ घड़ा प्रेम-जल से भरा हुआ है—इन्हें अब तक कोई दूसरा हाथ नहीं लगा सका है। अब, या नन्दनन्दन ही हाथ लगावें—तो लगा सकते हैं और कौन है हाथ लगाने वाला।

१—जैसा योग, ऊधो, तुम बता रहे हो—वह अपने से सम्भव नहीं। अन्धे जैसा आँख बन्द कर टटोलने में क्या मिलने वाला है? कुंकुम को मिटाकर भस्म लगाना—सुनकर ही रोना आता है। अब तो श्याम के बिना प्राणों का रहना कठिन हो रहा है।

२—ऊधो, अपनी योग (की गठरी) न भूल जाना। कस के गाँठ लगाओ, नहीं तो कहीं गिर गया— तो पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। इसका मर्म तुम्हीं समझते हैं—व्रज-वनिताओं के किसी काम का तो है नहीं। यह तो तुम्हारे ही काम का है। उन्होंने जो तुम्हारे द्वारा हम सब के पास भेजा वह—हम सबने तुम्हे वैसे ही लौटा दिया जैसा ब्राह्मण भगवान् का नारियल उसे ही लौटा देता है।

१३—गोपियों का कहना है—हम लोग क्या अन्यथा सोचें। जिसने अपना माँ-बाप वसुदेव और देवकी को तरसाया, जिस नन्द-यशोदा लाड़-प्यार और दूध से पला उसे भुला दिया। बात बनाने में तो तुम दक्ष हो ही—कहना, जब उन लोगों की यह स्थिति है तो इन अबलाओं को कौन पूछे? कुब्जा से मित्रता मित्र (कृष्ण) के स्वभाव का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

१४—ऊधो, अच्छा किया जो तुम आ गये। यहाँ लोग अरसे से दुःखी थे—तुम्हारी बातें सुनकर लोगों का अच्छा मनोरंजन हो गया। खूब हँसे लोग। वहाँ जाकर मोरमुकुट आदि हमारी सामग्री वापस भेज देना और अपनी योगोपयोगी सामग्री लाद ले जाना। कहाँ वृन्दावन का दही-छाछ और कहाँ मथुरा का राजभोग (दासी भोग) दोनों त्रिभंगियों—कृष्ण—कुब्जा की अच्छी जोड़ी रही। अनीति वाले के ही तो मित्र हो। यहाँ जो यमुना बहती है उसका रंग तो कुछ और ही है

१५—भक्ति के राजपथ को क्यों अवरुद्ध कर रहे हो? निर्गुन, वह तो भक्ति के राजपथ का काँटा है। ठीक बताओ, तुम्हें कुब्जा ने सिखा-

पढ़ाकर भेजा है या स्वयम् कृष्ण ने ? तुम तो पढ़े-लिखे हो—पढ़ा है कहीं वेद-पुराण में कि युवतियों को योग-साधना चाहिए ? जो छाछ और दूध का अन्तर न समझता हो, उससे क्या कहा जाय ? मूल तो अक्रूर ले गये, सूद उगाहने तुम आ गये।

१६—अमीरों की इस बस्ती में भारी व्यापारी आ गया है—ज्ञान की वजनदार गठरी बाँधकर आया है और उतार रखी है। फटकन देकर सोना लेना चाहता है—अच्छा निपट बेवकूफ समझ रखा है गोपिकाओं को। लगता है कि मूल में इसे गहरा घाटा लग गया है—इसलिए सिर पर बोझ लादे परेशान घूम रहा है। इनके कहने में कौन आयेगा ? अपना दूध छोड़कर खारे कूप का पानी कौन ग्रहण करे ?

१७—कहो ऊधो, इस योग का तुम करते क्या हो ? ओढ़ते हो, बिछाते हो, खाते हो, पीते हो या यह कोई बढ़िया खिलौना है अथवा इसे अलंकार की तरह धारण करते हो ? हमें तो हमारा मोहन ही जीवन है। यह तुम्हारा निर्गुन, वेद प्रतिपाद्य होगा कुछ। भाई, जो सामने अनुभव सिद्ध और प्रत्यक्ष है—उसे छोड़ना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

१८—गोपियों के लिए कृष्ण हारिल की लकड़ी हैं। (हारिल पक्षी एक तिनका पैर से पकड़े रहता है और समझता है कि वह सदा डाल ही पर बैठा हुआ है ?) उन्हें वह मन-वचन-कर्म से हृदय से पकड़े रहती हैं—रात-दिन कान्ह से जुड़ी रहती हैं। निर्गुन शब्द ही कड़वी ककरी की तरह लगता है। गोपियों के लिए तो यह व्याधि है। कृपा कर आप निर्गुन को उन्हें दें—जिनका मन स्थिर न हो—आगे-पीछे करता हो। यही स्थैर्य है।

१९—और फिर होगा तुम्हारा निर्गुण उत्तम। पर स्वभाव को क्या करोगे ? दाख, छुहारा, अमृत फल छोड़कर विष-कीट विष ही में रमता है। चकोर को दो न कपूर, छोड़कर वह आग ही की ओर बढ़ेगा। भौंरा है—काठ को तो छेद डालता है पर कमल के कोश में बँध जाता है। पतंग अपना हित दीपक से ही लिपटने में मानता है। भाई, इसमें जबरदस्ती क्या ? जिसका मन जिसे पसन्द करे, उसी में वह रमता है।

२०—साहचर्यजन्य बचपन का प्रेम कैसे छूट सकता है ? व्रज नाथ का चरित अन्तस् को आकृष्ट कर लेता है। उनकी वे गतिविधियाँ—क्या कहने ? कहाँ तुम्हारा विषाक्त निर्गुन ?

१२१—गोपाल के बिना ये कुंजें दुश्मन की-सी लगती हैं। तब की बात ही निराली थी अब तो सब उल्टा ही लगता है। सारी प्राकृतिक छटा अपने लिए व्यर्थ है। पवन, पान, कपूर, चाँद, चाँदनी—सब दाहक हो गयी हैं। जाकर कहना कृष्ण से कि मदन ने गोपियों को मार-मार-कर अपंग बना दिया है—दर्शनार्थ आँखें रोते-रोते गुंजा बन गयी हैं।

१२२—उद्धव, अन्ततः विस्मित हो उठे—गोपियों का भाव देखकर। सोचा, आया था निर्गुन का ज्ञान देने, हो गया सगुण का आराधक। गीता के गम्भीर ज्ञान का इन पर कोई असर ही नहीं हुआ। अच्छे मूर्ख दूत सिद्ध हुए। योग का बेड़ा वृन्दावन के भावसागर में डुबोकर प्रेम रस मत्त उद्धव मधुपुरी को प्रस्थित हुए।

१२३—गोपीनाथ उद्धव से पूछ रहे हैं—जब तुम व्रज पहुँचे, तब की कथा सुनाओ—मैं मन लगाकर सुनूँगा नन्द, यशोदा, गोप, गोपी, गौ, वत्स, राधा—सबके विषय में जानने की उत्कण्ठा है। अर्थ स्पष्ट है।

१२४—कृष्ण, व्रज के तुम्हारे आने के बाद दो ऋतुएँ सदा बनी रहीं—एक तो ग्रीष्म और दूसरे वर्षा। विरह की ऊष्मा तथा आँखों से जलधार। ऊर्ध्वश्वास भी चलता रहता है—लुएँ चलती हैं। जो दुख दादुर छिपे थे, नैन जलधार की वर्षा ने उन्हें प्रकट कर दिये। विरह की व्यथा क्या है—वृष का सूर्य उरःप्रदेश में प्रकट हो आया है। कौन यह ताप हरे? रूपक अलंकार।

१२५—दस दिन के लिए ही सही, व्रजमण्डल में जाकर जरा अपनी आँख से देख आओ। गायों को दर्शन में विलम्ब का जो अनुभव हो रहा है—उसे तो हटाओ ही, ग्वालों से मिल लो। जब से तुम वहाँ से हटे—तब से व्रज को जैसे पाला मार गया। वर्षा आने पर भी मयूर बोलते नहीं, मृग अलग दुबरा गये हैं—उन्हें वेणु रव सुनने को कहाँ मिलती है? अभिप्राय यह कि सभी बेहाल हैं।

१२६—इसमें वृन्दावन-वास की यादों का हृदय द्रावक चित्र कृष्ण ने खींचे हैं।

१२७—इसका अर्थ भी स्पष्ट है।

१२८—कुरु क्षेत्र में सूर्यग्रहण पर जब भेंट हुई—राधा-कृष्ण परस्पर मिले—तो उनकी परस्पर कीट-भृंग की गति हो गयी। कृष्ण-राधा से कहा—दोनों में कोई अन्तर है ही नहीं—दोनों एक ही हैं।

१३०—सुदामा की पत्नी पूछ रही है—कहो मित्रवर कैसे मिले? सुदामा ने कहा—'कैसे कहा जाय कैसे मिले—गन्दा कपड़ा, क्षीण गात।

देखते ही उठके दौड़ पड़े—अँकवार में ले लिया—कुशल समाचार पूछे। कपड़े से चावल खोलकर निकाल लिया। रुक्मिणी भी वहीं थी। सब मुँह में कपड़ा का आड़ देकर हँस रही थी। यदि उनकी पत्निया नाराजगी व्यक्त न करती तो और न जाने क्या-क्या दे देते।

पद १३१—दारिद्र्य-हरण उनके बिना कौन कर सकता है? उनकी वह मिलनि भूलती ही नहीं। स्पष्ट है।

पद १३२—गहरु = विलम्ब।

पद १३३—गोपियाँ पुन. कृष्ण की लीलाओं की याद कर व्यथित हो रही हैं और कह रही हैं कि उन्होंने ऊधव के द्वारा एक बार याद की थी। राहगीरों से विनती करती हैं कि मथुरा जाकर उनसे गोपियों का विरह निवेदन कर दें। कह दें कि उनकी स्मृति कामदीपक असंह्य स्तर तक पहुँचा देती है। पुरानी प्रीति ऊपर आती है और हृदय को सालने लगती है।

पद १३४—क्या कान्ह के देश में कागद-मसि समाप्त हो गयी। यहाँ तो यह हालत है कि भूख-प्यास और नींद सब समाप्त हो गयी है विरह ने खुलकर लूट मचा दी है। जब शरीर ही नहीं रहेगा, तब आकर करोगे क्या? अब तो प्रीति टूटने लगी है।

पद १३५—गोपियाँ जब यह सुनती हैं कि कान्ह मथुरा से भी हटकर अब द्वारका चले गये हैं—तब तो उनके नेत्र और अनाथ अनुभव करने लगते हैं। समुद्र से अलग होकर मछली कैसे जी सकती है? वे यदि श्याम जलद हैं तो हम सब चातक। मथुरा थे तो थोड़ी आशा भी थी—आँखें फिर भी राह देख-देख थक जाती थीं। एक तो वैसे ही हम सब मृतक हो गयी थीं—मृतक को भी द्वारका जाकर मार डाला।

पद १३६—जब गोपीनाथ मथुरा से ही नहीं आये, तब द्वारका से आयेंगे—कौन आशा है? सन्देश भी भेजना कठिन है। द्वारका राजभवनवासी को व्रज में रहना कैसे आयेगा?

पद १३७—और पथिक यदि तुम्हारे साथ द्वारका जाऊँ भी, तो क्या राजा कृष्ण के दर्शन सम्भव हैं? वहाँ तो दरवाजे पर देश-देश के राजाओं के कन्धे छिलते रहते हैं। घर भीतर भामिनियों की भीड़—कहाँ भेंजूं, कैसे मिलूँ? इन नैनों को क्या दिखाऊँ?

पद १३८—वर्तमान स्थितियों को देखने पर चिन्ताओं के मारे मरना आता है। अब तो वे काले कोस चले गये। वह प्रेम और कहाँ यह वैराग्य? मुझे तो ऐसा छोड़ दिया, जैसे कमान के दोनों सिरों से (कोमनि) कमान।

एक तो गोपीनाथ के दर्शन का अभाव और दूसरे कुब्जा की ठमक। ओस से यह जलन शान्त होने वाली है ? साधारण उपाय से यह जलन शान्त होने वाली नहीं है।

३९—सखी, गोपीनाथ का अब व्रज आना कैसे सम्भव होगा ? सुनते है मथुरा से कहीं और चले गये। दूर दक्षिण मे कोई खार समुद्र है—गोपीनाथ अब सपरिवार वहाँ चले गये ? रास्ते में सुना कालयवन का वध भी कर दिया। नजदीक थे तब हम बुद्धिहीनों की मति पर पाला पड गया था—कभी मिलने न गयीं—अब वहाँ तक कौन हमें पहुँचाये ?

४०—लगभग वही आशय यहाँ भी है। स्पष्ट भी है।

४१—भाई पथिक, पत्रिका लेकर जाओ और गोपीनाथ से कहो कि राजधानी मथुरा और व्रज की भी कभी-कभार खोज खबर ले लें। क्या खारे जल का सेवन कर रहे हैं, यहाँ यमुना का मधुर जलपान करें। शेष स्पष्ट।

४२—गोपीनाथ रुक्मिनी को सम्बोधित कर रहे है कि व्रज भुलाये नही भूलता। गोपियाँ और गोपो के साथ की वे क्रीड़ाएँ उर में ऐसी जगी हैं कि वर्णनातीत। माना कि द्वारावती सम्पन्न है, पर कहाँ गोकुल और कहाँ द्वारावती ?

४३—रुक्मिनी, चलो लौट चलें अपनी जन्मभूमि की ओर। द्वारावती का यह बाह्य विभव, मथुरा और व्रजमण्डल की आन्तरिक मनःस्थिति की बराबरी क्या करेगा ? सोने-चाँदी के सागर में रहकर भी वहाँ स्मृति नहीं जाती।

४४—कुरु-क्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर नन्द-यशोदा सभी अपनी-अपनी बैलगाड़ी सजाकर व्रजनाथ से मिलने चलीं। सुध-बुध खोये प्रस्थित हुए सब—व्रजनाथ के दर्शन हुए पर देखकर भी यह नही लग रहा था कि जो देख रहे हैं वह सही है या स्वप्न ? व्रजनाथ भी उसी भाव से सबसे मिले—वह सुख अनुभूतिमात्र संवेद्य था।

४५—यशोदा, तेरी जीवनमूरि सामने खड़ी है—मिलती क्यों नहीं ? फिर प्रेम-विभोर मिलन प्रक्रिया चलती है।

४६—व्रजनाथ, इसी क्षण की आशा में जगत में जीवन चल रहा था, ताकि पुरानी प्रीति ताजी हो जाय। कहाँ समुद्र तट वासी तुम कहाँ व्रजमण्डलवासी हम सब ? कहाँ राहु और कहाँ सूर्य—पर ग्रहण ने सबको मिला दिया—पर्व पुण्यमय हो गया। इसी पुण्य का फल है कि ये नेत्र आपका दर्शन पा गये।

पद १४७—सबसे प्रिय हैं मेरे ये आत्मीयजन। शपथपूर्वक कहता हूँ कि गोकुल हृदय मे ऐसा जमा हुआ है कि टाले भी नहीं टलता, द्वारिका निवास से कोई अन्तर थोड़े ही आ गया। यहाँ तो साधु का हित और असाधु की अहेर—यही अपना कर्तव्य है।

पद १४८—हमें तो यही सबसे बड़ा सुख है कि व्रजनाथ के पुनः दर्शन हो गये। क्या हुआ जो वे द्वारका में आ गये ? इससे मानसिक दूरी थोडे ही आ गयी। मथुरा थे तो भी लोकमंगल ही किया। यहाँ आये, तो भी उसी भाव से मिले, जिस भाव से व्रजमण्डल में मिलते थे—कोई फर्क नहीं पड़ा।

पद १४९—रुक्मिणी और राधा तो इस प्रकार मिलीं—जैसे बहुत दिनों की बिछुड़ी हुई एक बाप की दो बेटियाँ हों—एकसा स्वभाव और एकसी उमर, व्रजनाथ को दोनों ही समान प्रिय। रुक्मिणी अपने भवन मे राधा को ले गयी और खूब सुसज्जित किया। राधानाथ वहाँ पहुँचे जहाँ ये दोनों ठकुरानी बैठी थीं।

पद १५०—इतनी लम्बी अवधि ? रहे कहाँ ? जब प्रतीक्षा करते-करते आँखे पथरा गयीं, तब तो भेंट नहीं हुई—यहाँ अचानक दर्शन हो गये। अच्छा किया जो इन नेत्रों को जीवनावधि में एक बार अपनी छटा पुनः दिखा दी। राधानाथ ने विरहिणी की व्यथा समझी और उसे अपने अंकपाश में ले लिया। सारथि से कहा—छोड दो घोड़ों को रथ से—यहाँ ठहरना है।